श्री काशी संस्कृत ग्रन्थमाला ८४

महाकविकालिदासविरचित

रघुवंशमहाकाव्यम्

'सञ्जीविनी'-'सुधा'-'इन्दु'-व्याख्यात्रयोपेतम्

टीकाकारः--

पण्डित श्रीब्रह्मशङ्करमिश्रः, साहित्यशास्त्री

(५ सर्ग)

पञ्चम सर्ग

चौखम्बा संस्कृत संस्थान

पोस्ट बाक्स नं० ११३९

वाराणसी-२२१००१ (भारत)

(सर्वेऽधिकाराः प्रकाशकाधीनाः)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

प्रत्येक सर्ग का मूल्य १०-००

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

८४

महाकविकालिदासविरचितं

रघुवंशमहाकाव्यम्

'सञ्जीविनी-'सुधा'-'इन्दु'-व्याख्यात्रयोपेतम्

टीकाकार :—

पण्डित श्रीब्रह्मशङ्करमिश्रः, साहित्यशास्त्री

CHAUKHAMBHA SANSKRIT BHAWAN

चौखम्भा संस्कृत संस्थान

भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक

पोस्ट बाक्स नं० ११३९

के. ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन

वाराणसी—२२१००१ (भारत)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

(सर्वेऽधिकाराः प्रकाशकाधीनाः)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

८४

महाकविकालिदासविरचितं

रघुवंशमहाकाव्यम्

'सञ्जीविनी-'सुधा'-'इन्दु'-व्याख्यात्रयोपेतम्

टीकाकार :—

पण्डित श्रीब्रह्मशङ्करमिश्रः, साहित्यशास्त्री

चौखम्बा संस्कृत भवन
CHAUKHAMBHA SANSKRIT BHAWAN
चौक (चित्रा सिनेमा के सामने)
वाराणसी - 221001

चौखम्भा संस्कृत संस्थान

भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक
पोस्ट बाक्स नं० ११३९
के. ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन
वाराणसी–२२१००१ (भारत)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

(सर्वेऽधिकाराः प्रकाशकाधीनाः)

संक्षिप्त कथासार

प्रथम सर्ग

महाराज दिलीप ने एक नयनानन्दजनक पुत्र के बिना सारे जगत् को ही शून्य समझ कर अपनी धर्मपत्नी सुदक्षिणा के साथ गुरु वसिष्ठ जी के पास जाकर कहा 'भगवन् ! आपकी दया से सब आनन्द है किन्तु आपकी पुत्रवधू इस सुदक्षिणा को संतति-विहीन देखकर राज्मलक्ष्मी भी मुझे अच्छी नहीं लगती। इस ससार से चले जाने पर मेरे पितर लोग पिण्डरहित होकर निराश हो जायेंगे। प्रभो ! शोकाकुल मुझको देखकर आपको क्या दया नहीं आती ?' वसिष्ठ जी ने संतति-निरोध का रहस्य जानकर राजा से कहा—'पूर्व जन्म में इन्द्र का उपस्थान कर लौटते समय आपने अपनी धर्म पत्नी के पास आने की त्वरा से मार्ग में सुरभि (गौ) का पूजित नहीं कर अपमानित किया। अतः उसने श्राप दे दिया। इसीलिए आपकी सन्तति नहीं होती। सुरभि तो अभी पाताल चली गई है किन्तु उसकी पुत्री नन्दिनी यहीं है। उसकी आराधना कर आप सफल-मनोरथ हो सकते है।'

द्वितीय सर्ग

गुरु वसिष्ठ जी की आज्ञा से महाराज दिलीप नन्दिनी गौ का सेवा करने लगे। परिचर्या करते-करते महाराज दिलीप के इक्कीस दिन वीत गये। एक दिन दिलीप को मुक्ति की परीक्षा करने के लिए कैलास की गुफाओं में घुसकर मायानिर्मित (बनावटी) सिंह से आक्रान्त होकर नन्दिनी बहुत जोर से चिल्ला उठी। उसकी करुण आवाज सुनकर तुरत ही उसको मारने के लिए राजा दिलीप तरकस से बाण निकालने लगे, इतने में सिंह बोला—'हे राजन् ! भगवान् शङ्कर की दया से आप मेरा एक भी बाल बाका नहीं कर सकते।' इस बात को सुनकर राजा ने कहा—'हे मृगेन्द्र ! भगवान् शङ्कर और गुरु वसिष्ठ जी दोनों ही मेरे पूज्य हैं। दोनों का आदर करना मेरा कर्तव्य है। इसलिये इस नन्दिनी को छोड़कर मेरे ही शरीर से तुम अपनी भूख मिटा लो।' यह सुनकर नन्दिनी ने कहा—'भद्र ! गुरु की दया से मुझ में जो तेरी अटूट भक्ति है उससे मैं तेरे ऊपर अत्यन्त प्रसन्न हूँ। वर मांग।' दिलीप ने कहा—'माताः ! मुझे वीर पुत्र चाहिये। 'तथास्तु' कहकर 'मेरा दूध पीओ' ऐसी उसने आज्ञा दी और गोदुग्ध पान करने में सुदक्षिणा गर्भवती हुई।

तृतीय सर्ग

गर्भधारण कर सुदक्षिणा ने समय पूर्ण होने पर शुभ मुहूर्त में पुत्र का जन्म दिया। उसके जन्मकाल में सभी वस्तुएँ प्रसन्नतामय दीखने लगीं। CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection दिलीप ने उसका 'रघु' नाम रखा। रघु चन्द्रमा की तरह बढ़ने लगे और

थोड़े ही दिनों में सभी कला-कौशल एवं विद्याओं में पारंगत हो गये। जवान होने पर राजा दिलीप ने उनका विवाह कराकर उन्हें युवराज पद पर नियुक्त कर सौवां अश्वमेध यज्ञ प्रारम्भ करके उसकी पूर्ति के लिए रघु को रक्षक बनाकर दिग्विजय के लिए अश्व छोड़ा। इन्द्र ने उसे अश्व को चुरा लिया। घोड़े के अपहरण से राजकुमार रघु चकित हो उठे। उसी समय कहीं से चरती हुई नन्दिनी वहाँ आई। रघु उनके मूत्र से आँखों को पोंछ कर सामने से घोड़ा चुराकर ले जाते हुए इन्द्र को देख क्रुद्ध हो उठे और बाण-प्रक्षेप से इंद्र की बाँह को वेधकर इंद्रध्वज को काट डाला। इस पर क्रुद्ध होकर इंद्र ने रघु पर वज्र चलाया, परन्तु उससे आहत होकर भी रघु युद्ध से विमुख नहीं हुए। उनकी इस बहादुरी पर प्रसन्न होकर इंद्र बोले— 'इतने कठोर मेरे वज्र को तुम्हारे सिवाय दूसरे किसी ने भी सहन नहीं किया था इसलिए घोड़े को छोड़कर दूसरा कोई बर माँगो।' रघु ने कहा— 'यदि आप घोड़ा नहीं देना चाहते तो मेरे पिता जी सौवां अश्वमेध यज्ञ नहीं करके भी उसके फलभागी हों यह वर दें।' इंद्र 'तथास्तु' कहकर स्वर्ग चले गये। बाद में राजा दिलीप ने रघु जैसे वीर पुत्र को छाती से लगाकर प्यार किया और उन्हें राजगद्दी पर बैठा कर तपोवन चले गये।

चतुर्थ सर्ग

रघु का राज्यशासन-प्रणाली से अत्यन्त प्रभावित होकर थोड़े ही दिनों में सारी प्रजा दिलीप को भूल सी गई। न्यायपूर्वक प्रजापालन करते हुए उनके गुणों से आकृष्ट होकर लक्ष्मी और सरस्वती दोनों ही रूपांतर ग्रहण कर उनके पास आ गयीं। एक दिन दिग्विजय करने की भावना से महाराज रघु सेनाओं को सजाकर पूर्व दिशा की ओर चल पड़े। रास्ते में राजाओं को घर्षित करते हुए वे कलिङ्ग देश की ओर चले। कलिङ्गों से घोर संग्राम हुआ। अन्त में रघु ने कलिङ्गराज को पकड़ कर उसकी प्राणदान की प्रार्थना मान कर उसे छोड़ दिया। फिर समुद्र-तट के रास्ते से दक्षिण की ओर जाकर पाण्डवों को जीता और बीच के अत्यन्त बीहड़ पर्वतीय रास्तों को पार कर केरल देश की ओर चले। वहाँ जाकर पारसियों को जीतकर उत्तर दिशा की ओर जाते हुए पहले हूण देश में पहुँचे हूणवासियों को भी लड़कर पराजित कर दिया। कम्बोजवासियों ने तो रघु का नाम सुनते ही भय से आत्मसमर्पण कर दिया। बाद में बड़ी सेना के साथ वे कैलास पर्वत पर चढ़ गये। वहाँ पर भी पर्वतीयों के साथ युद्ध करते बहुत से महत्त्वपूर्ण स्थानों को जीत कर प्राग्ज्योतिषेश्वर की ओर बढ चले। परंतु जब वह उनके तेज को नहीं सहन कर सका तब कामरूप की ओर जाकर उनसे सत्कृत होकर महाराज रघु अयोध्या वापस लौट आये और सब दिशाओं को जीतने के

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

उपलक्ष्य में बहुत धूमधाम के साथ पुष्कल दक्षिणा देकर उन्होंने विश्वजित् नामक यज्ञ सम्पन्न किया।

पञ्चम सर्ग

महात्मा रघु के समक्ष आकर कौत्स ने कहा—'राजन्! मेरी विद्या के अनुसार गुरु दक्षिणा में १४ कोटि सुवर्ण मुद्राएँ लाने के लिए गुरु वरतन्तु ने आज्ञा दी है लेकिन आपकी गरीबी देखकर मैं तो अत्यंत निराश हो गया हूँ।' यह सुनकर रघु ने उनसे कहा—'भगवन्! कुछ काल मेरी यज्ञशाला में आप ठहरने की कृपा करें, मैं तब तक उसके लिए भरसक चेष्टा करता हूँ।' इस तरह उनको आश्वासन देकर कुबेर से धन लेने की कामना से महाराज रघु एक रथ पर शस्त्रों को सजाकर रात में उसी पर सो गये। सवेरे खजाञ्ची ने खजाने में अकस्मात् स्वर्ण वर्षण की बात कहीं। यह सुनकर राजा ने कौत्स को बुलाकर सारी स्वर्णराशि दे दी। कौत्स ने बड़ी प्रसन्नता से गुरु को देने योग्य धन लेकर राजा रघु को आशीर्वाद देते हुए कहा—'राजन्! आप के लिए कोई भी वस्तु अलभ्य नहीं है इसलिए आप अपने स्वरूप के अनुरूप पुत्र प्राप्त करें।' यह कहकर कौत्स चले गये। बाद में राजमहिषी ने एक दिन ब्रह्ममुहूर्त मे पुत्र उत्पन्न किया। उसी पुत्र का नाम 'अज' पड़ा। क्रमशः अज ने अपना बाल्यकाल बिताकर सब कला-कौशलों और विद्याओं को पढ़कर भोज राजा की बहन के स्वयंवर-वृत्तान्त को उसके भृत्य द्वारा जानकर रघु से प्रेरित होकर 'क्रथकैशिकों' के प्रति सैनिकों के साथ प्रस्थान किया। मार्ग में वे नर्मदा तट पर तम्बू लगाकर ठहरे ही थे, कि एक जङ्गली हाथी उनके घोड़े-हाथियों को विद्रावित करता हुआ वहीं आ पहुँचा। अज ने उसको एक बाण मारा। बाण लगते ही वह हाथी रूप बदल कर गंधर्वरूप धारण कर अज के सामने खड़ा होकर बोला—'राजकुमार! मैं प्रियदर्शन का पुत्र प्रियंवद नाम का गन्धर्व हूँ। मैंने मतङ्गनामक मुनि को गर्व से अपमानित किया था जिस पर उन्होंने शाप दे दिया और प्रार्थना करने पर मुनि ने आपके बाण से ही विद्ध होकर उक्त हाथी के शरीर से छुटकारा पाने का वर दिया था। उसी वरदान का यह फल है। मैं प्रसन्नता से आपको गंधर्व अस्त्र देता हूँ। इसके प्रभाव से शत्रुओं पर शस्त्र प्रहार के बिना ही आप विजय प्राप्त करेंगे।' यह सुनकर अज उस अस्त्र को ग्रहण कर आगे चले और थोड़े ही काल में भोज की राजधानी में पहुँचे। उनका मन इंदुमती में ऐसा आसक्त हो गया था कि उसकी चिंता से रात में बहुत देर के बाद उन्हें नींद आई। सवेरे उठकर दैनिक कृत्य सम्पन्न करके वे सभा में जाने के लिये प्रस्तुत हुए।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

रघुवंशमहाकाव्यम्

पञ्चमः सर्गः

इन्दीवरदलश्याममिन्दिराऽऽनन्दकन्दलम् ।
वन्दारुजनमन्दारं वन्देऽहं यदुनन्दनम् ॥

अथ गुरुदक्षिणाऽर्थी वरतन्तुशिष्यः कौत्स ऋषी रघुम्प्रापेत्याह—

तमध्वरे विश्वजिति क्षितीशं निःशेषविश्राणितकोषजातम् ।
उपात्तविद्यो गुरुदक्षिणाऽर्थी कौत्सः प्रपेदे वरतन्तुशिष्यः ॥ १ ॥

सञ्जीविनी—तमिति । विश्वजिति विश्वजिन्नाम्न्यध्वरे यज्ञे । 'यज्ञः सवोऽध्वरो यागः' इत्यमरः । निःशेषं विश्राणितं दत्तम् । 'श्रणु दाने' चुरादिः । कोषानामर्थराशीनां जातं समूहो येन तं तथोक्तम् । 'कोषोऽस्त्री कुड्मले खड्गपिधानेर्थौघदिव्ययोः' इत्यमरः । 'जातं जनिसमूहयोः' इति शाश्वतः । एतेन कौत्सस्यानवसरप्राप्तिं सूचयति । तं क्षितीशं रघुमुपात्तविद्यो लब्धविद्यो वरतन्तोः शिष्यः कौत्सः । 'ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च' इत्यण् । इञोऽपवादः । गुरुदक्षिणाऽर्थी । 'पुष्करादिभ्यो देशे' इत्यत्रार्थाच्चासन्निहिते तदन्ताच्चेतीनिः । अप्रत्याख्येय इति भावः । प्रपेदे प्राप । अस्मिन्सर्गे वृत्तमुपजातिः । तल्लक्षणं तु—(स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः । उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ । अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः) ॥ इति ॥

अन्वयः—विश्वजिति, अध्वरे, निःशेषविश्राणितकोषजातं, तं, क्षितीशम्, उपात्तविद्यः, वरतन्तुशिष्यः, कौत्सः, गुरुदक्षिणार्थी, 'सन्', प्रपेदे ॥ वाच्यान्तरम्—निःशेषविश्राणितकोषजातः स क्षितीश उपात्तविद्येन वरतन्तुशिष्येण कौत्सेन गुरुदक्षिणाऽर्थिना प्रपेदे ॥

सुधा—विश्वजिति = विश्वजिदाख्ये, अध्वरे = यागे, निःशेषविश्राणितकोषजातं = निखिलवितीर्णार्थौघसमूहं, सकलदिग्विजयं कृत्वा विश्वजिन्नाम्नि यज्ञे ऋत्विग्भ्यो याचकेभ्यश्च कृतसर्वस्वदानमिति भावः । तं = पूर्वोक्तं, क्षितीशं = पृथ्वीपतिं, रघुमिति यावद् । उपात्तविद्य = प्राप्तचतुर्दशविद्यः, वरतन्तुशिष्यः = वरतन्तुनामकमहर्षिच्छात्रः, कौत्सः = कौत्सनामकः, कश्चित्कुत्सनामकऋषिवंश्य इति यावद् । गुरुदक्षिणाऽर्थी = उपाध्यायचतुर्दशकोटिरूपदक्षिणायाचकः, उपाध्यायस्य निष्क्रयदक्षिणादानार्थं चतुर्दशकोटिरूपद्रव्याभिलाषीत्यर्थः । सन्निति शेषः । प्रपेदे = प्राप ॥

समासः—कोषाणां जातमिति कोषजातं, निःशेषं विश्राणितं कोषजातं येन स निःशेषविश्राणितकोषजातः तं तथोक्तम् । उपात्ता विद्या येन स उपात्तविद्यः । गुरोर्दक्षिणा गुरुदक्षिणा तस्या अर्थी गुरुदक्षिणाऽर्थी ॥

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

कोशः—'त्यागो विहापितं दानमुत्सर्जनविसर्जने। विश्राणनं वितरणं स्पर्शनं प्रतिपादनमि'त्यमरः॥

तात्पर्यार्थः—सर्वा दिशो जित्वा तत्र प्राणिवधजन्यदुरितापनुत्यै सर्वस्वदक्षिणे विश्वजिन्नाम्नि यज्ञे सर्वस्वमृत्विग्भ्यो याचकेभ्यश्च दत्त्वा स्थितं परमदानिशिरोमणिं राजानं रघुम् 'अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः। धर्मशास्त्रं पुराणञ्च विद्यास्त्वेताश्चतुर्दश' पठित्वा गुरुदक्षिणाऽर्थं चतुर्दशकोटिमितं धनं याचितुं कौत्सनामा वरतन्तुनामकमहर्षिशिष्यः प्राप॥

इन्दुः—विश्वजित् नामक यज्ञ में सारे अर्थराशियों के समूह (खजानों) का दान किये हुये उन महाराज रघु के पास १४ विद्या (छन्द-कल्प-ज्योतिष-निरुक्त-शिक्षा-व्याकरण-इन छ अङ्गों के सहित ऋग्वेद-यजुर्वेद-सामवेद-अथर्ववेद-ये ४ वेद, मीमांसा-न्याय-धर्मशास्त्र-पुराण) को प्राप्त किये हुये वरतन्तु नामक महर्षि के शिष्य कौत्स ऋषि गुरु की दक्षिणा स्वरूप १४ करोड़ धन को चाहने वाले होते हुये पहुँचे॥१॥

अथ रघुः कौत्सस्य स्वागतार्थमर्घ्यं गृहीत्वा सम्मुखं ययावित्याह—

स मृन्मये वीतहिरण्मयत्वात्पात्रे निधायार्घ्यमनर्घशीलः।
श्रुतप्रकाशं यशसा प्रकाशः प्रत्युज्जगामातिथिमातिथेयः॥ २॥

सञ्जी०—स इति। अनर्घशीलोऽमूल्यस्वभावः। असाधारणस्वभाव इत्यर्थः। 'मूल्ये पूजाविधावर्घः' इति। 'शीलं स्वभावे सद्वृत्ते' इति चामरशाश्वतौ। यशसा कीर्त्या। प्रकाशत इति प्रकाशः। पचाद्यच्। अतिथिषु साधुरातिथेयः। 'पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्ढञ्' इति ढञ्। स रघुः। हिरण्यस्य विकारो हिरण्मयम्। 'दाण्डिनायन०' इत्यादिना सूत्रेण निपातः। वीतहिरण्मयत्वादपगतसुवर्णपात्रत्वात्। यज्ञस्य सर्वस्वदक्षिणाकत्वादिति भावः। मृन्मये मृद्विकारे पात्रे। अर्घार्थमिदमर्घ्यम्। 'पादार्घाभ्यां च' इति यत्। पूजाऽर्थं द्रव्यं निधाय, श्रुतेन शास्त्रेण प्रकाशं प्रसिद्धम्। श्रूयत इति श्रुतं वेदशास्त्रम्। 'श्रुतं शास्त्रावधृतयोः' इत्यमरः। अतिथिमभ्यागतं कौत्सम्। 'अतिथिर्ना गृहागते' इत्यमरः। प्रत्युज्जगाम॥

अ०—अनर्घशीलः, यशसा, प्रकाशः, आतिथेयः, सः, वीतहिरण्मयत्वाद्, मृन्मये पात्रे, अर्घ्यं, निधाय, श्रुतप्रकाशम्, अतिथिम्, प्रत्युज्जगाम॥ वा०—अनर्घशीलेन प्रकाशेनातिथेयेन तेन श्रुतप्रकाशोऽतिथिः प्रत्युज्जग्मे॥

सुधा—अनर्घशीलः=अमूल्यस्वभावः, अनुपमस्वभाव इत्यर्थः। यशसा=कीर्त्या, प्रकाशः=अतिप्रसिद्धः विख्यात इत्यर्थः। आतिथेयः=अभ्यागतसाधुः, अतिथिसत्कारकर्तेत्यर्थः। सः=पूर्वोक्तः, रघुरिति यावद्। वीतहिरण्मयत्वाद्=अविद्यमानस्वर्णपात्रत्वाद्, यज्ञे सर्वस्वदक्षिणादानादिति भावः। मृन्मये=मृद्विकारे, मृत्तिकानिर्मित इत्यर्थः। पात्रे=भाजने, अर्घ्यम्=अर्घार्थं, पूजानिमित्तकं द्रव्यमित्यर्थः। निधाय=स्थापयित्वा, श्रुतप्रकाशं=शास्त्रातिप्रसिद्धं, वेदशास्त्रादिषु निष्णाततया लोके विख्यात

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

मित्यर्थः । अतिथिम् = आगन्तुकं, कौत्समिति यावद् । प्रत्युज्जगाम = प्रत्युद्ययौ, स्वागतार्थं सिंहासनादुत्थाय तदन्तिकं ययावित्यर्थः ॥

स०—हिरण्यस्य विकारो हिरण्मयं वीतं हिरण्मयं यस्मात् स वीतहिरण्मयः । तस्य भावो वीतहिरण्मयत्वं तस्मात्तथोक्तात् । अनर्घं शीलं यस्य सोऽनर्घशीलः ।

को०—'योग्यभाजनयोः पात्रमि'त्यम० । प्रकाशः स्फुटहासयोः । उद्योतेऽतिप्रसिद्धेः चे'त्यने० । 'अतिथिः कुशपुत्रे स्यात्पुमानागन्तुकेऽपि च' इति विश्वमे० ॥

ता०—रघुः कौत्सस्यागमनं श्रुत्वा स्वागतार्थं सिंहासनादुत्थाय विश्वजिन्नाम्नि यज्ञे सर्वस्वदक्षिणादानात् , स्वर्णपात्राभावेन मृत्तिकानिर्मित्तपात्र एव पूजाऽर्थं द्रव्यं संस्थाप्यागन्तुकं प्रति ययौ ॥

इन्दुः—असाधारणशीलवान् , कीर्त्ति से परम प्रसिद्ध, अतिथियों के सत्कार करने वाले, वे रघुमहाराज, सोने के बने हुये पात्रों के न रहने से मिट्टी के बने हुये पात्र में अर्घ निमित्तक द्रव्य रख कर शास्त्र से परम प्रसिद्ध अतिथिकौत्स के पास उठकर गये ॥२॥

अथ कौत्समर्घ्यादिदानेन पूजयित्वाऽऽसने समुपवेश्य कृताञ्जलिः सन् रघुर्वक्तुमारेभ इत्याह—

तमर्चयित्वा विधिवद्विधिज्ञस्तपोधनं मानधनाग्रयायी ।
विशाम्पतिर्विष्टरभाजमारात्कृताञ्जलिः कृत्यविदित्युवाच ॥ ३ ॥

सञ्जी०—तमिति । विधिज्ञः शास्त्रज्ञः । अकरणे प्रत्यवायभीरुरित्यर्थः । मानधनानामग्रयाय्यग्रेसरः । अपयशोभीरुरित्यर्थः । कृत्यवित्कार्यज्ञः । आगमनप्रयोजनमवश्यं प्रष्टव्यमिति कृत्यवित् । विशाम्पतिर्मनुजेश्वरः । 'द्वौ विशौ वैश्यमनुजौ' इत्यमरः । विष्टरभाजमासनगतम् । उपविष्टमित्यर्थः । 'विष्टरो विटपी दर्भमुष्टिः पीठाद्यमासनम्' इत्यमरः । 'वृक्षासनयोर्विष्टरः' इति निपातः । तं तपोधनं विधिवद्विध्यर्हम् । यथाशास्त्रमित्यर्थः । 'तदर्हम्' इति वतिप्रत्ययः । अर्चयित्वाऽऽरात्समीपे । 'आराद् दूरसमीपयोः' इत्यमरः । कृताञ्जलिः सन्निति वक्ष्यमाणप्रकारेणोवाच ॥

अ०—विधिज्ञः, मानधनाग्रयायी, कृत्यवित् , विशाम्पतिः, विष्टरभाजं, तं तपोधनं, विधिवद् , अर्चयित्वा, आरात् , कृताञ्जलिः, 'सन्' इति, उवाच॥ वा—०विधिज्ञेन मानधनाग्रयायिना कृत्यविदा विशाम्पत्या कृताञ्जलिना 'सता' इत्यूचे ॥

सुधा—विधिज्ञः = शास्त्रवेत्ता, धर्मशास्त्रमर्मज्ञ इत्यर्थः मानधनाग्रयायी = चित्तोन्नतिरूपद्रव्यवतामग्रणीः, कृत्यवित् = कार्यवेत्ता, समयानुकूलकार्यकारीत्यर्थः । विशाम्पतिः=मनुजप्रभुः राजा रघुरित्यर्थः । विष्टरभाजम्=आसनाश्रितं, रघुप्रदत्तासनोपरि स्थितमित्यर्थः । तं = पूर्वोक्तं, तपोधनं = तपोरूपधनशालिनं, कौत्समिति यावत् । विधिवत् = यथाशास्त्रम्, अर्चयित्वा=पूजयित्वा, आरात्=समीपे, कृताञ्जलिः=विहितहस्तसम्पुटः, हस्तद्वयं परस्परं संयोज्य विनीतवत् स्थित इत्यर्थः । सन्निति शेषः । इति = वक्ष्यमाणप्रकारेण, उवाच = अवोचत् ॥

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection.

स०—तप एव धनं यस्य स तपोधनः तं तथोक्तम् । अग्रे यातुं शीलमस्येत्यग्रयायी मान एव धनं येषान्ते मानधनाः तेषामग्रयायी मानधनाग्रयायी ॥

को०—'विधिर्ना नियतौ काले विधाने परमेष्ठिनि' इति । 'मानश्चित्तोन्नतौ ग्रहे । स्त्रीयं प्रमाणे प्रस्थादौ' इति । 'अञ्जलिस्तु पुमान् हस्तसम्पुटेकुडवेऽपि चे'ति च मेदिनी ॥

ता०—मानिनां सर्वप्रथमो रघुरतिथिपूजनं परमावश्यकमिति बुद्ध्या यथाविधि पूजनं कृत्वा पश्चादासने समुपवेश्यागमनप्रयोजनस्यावश्यकप्रष्टव्यविषयत्वाद् बद्धकरपुटकः सन् वक्ष्यमाणप्रकारेण कौत्सं प्रत्यवोचत् ॥ ३ ॥

हि०—शास्त्र के जानने वाले, मान ही को धन मानने वालों में सर्व प्रथम, आगमन का प्रयोजन अवश्य पूछना चाहिये' इस कार्य के जानने वाले राजा रघु आसन पर बैठे हुए उन तपोधन कौत्स ऋषि का विधिवत् पूजन करके समीप में हाथ जोड़े हुये इस प्रकार उनसे बोले ॥ ३ ॥

अथ कौत्सं प्रति मुदिता रघुणा तद्गुरोः सर्वप्रथमं कुशलं पृष्टमित्याह—

अप्यग्रणीर्मन्त्रकृतामृषीणां कुशाग्रबुद्धे ! कुशली गुरुस्ते ।
यतस्त्वया ज्ञानमशेषमाप्तं लोकेन चैतन्यमिवोष्णरश्मेः ॥ ४ ॥

सु०—अप्यग्रणीरिति । हे कुशाग्रबुद्धे ! सूक्ष्मबुद्धे ! । 'कुशाग्रीयमतिः प्रोक्तः सूक्ष्मदर्शी च यः पुमान्' इति हलायुधः । मन्त्रकृतां मन्त्रस्रष्टॄणाम् 'सुकर्मपापमन्त्र०' इत्यादिना क्विप् । ऋषीणामग्रणीः श्रेष्ठस्ते तव गुरुः कुशल्यपि क्षेमवानिकम् । अपिः प्रश्ने । 'गर्हासमुच्चयप्रश्नशङ्कासम्भावनास्वपि' इत्यमरः । यतो यस्माद् गुरोः सकाशात्त्वयाऽशेषं ज्ञानम् । लोकेनोष्णरश्मेः सूर्याच्चैतन्यं प्रबोध इव । आप्तं स्वीकृतम् ॥४॥

अ०—कुशाग्रबुद्धे !, मन्त्रकृताम्, ऋषीणाम्, अग्रणीः, ते, गुरुः, कुशली, अपि, यतः, त्वया, अशेषं, ज्ञानं, लोकेन, उष्णरश्मेः, चैतन्यम्, इव, आप्तम् ॥

वा०—ऋषी- .अग्रण्या ते गुरुणा कुशलिनाऽपि 'भूयते' । त्वं ज्ञानं लोकश्चैतन्यमिवाप्तवान् ॥

सु०—कुशाग्रबुद्धे !=हे कुशाग्रीयमते !; हे सूक्ष्मदर्शिन्निति यावत् । मन्त्र(१) कृतां=मन्त्रस्रष्टॄणाम्, ऋषीणां=सुत्यवचसाम्, अग्रणीः=अग्रगण्यः, ते=तव, गुरुः= उपाध्यायः, वरतन्तुरिति यावद् । कुशली=कल्याणयुक्तः, अपि=प्रश्नेऽर्थे, किमित्यर्थः । यतः=यस्माद्, गुरोः सकाशादित्यर्थः । त्वया=भवता, अशेषं=निखिलं, ज्ञानम्=मोक्षोपयोगिबुद्धिम्, वेदाविज्ञानमिति वा । लोकेन=जनेन, उष्णरश्मेः=रवेः, सकाशादिति भावः । चैतन्यं=प्रबोधः, इव=यथा, आप्तं=लब्धम् ॥

स०—कुशस्याग्रमिति कुशाग्रं तद्वत्तीक्ष्णा बुद्धिर्यस्य स कुशाग्रबुद्धिः तत्सम्बुद्धौ हे कुशाग्रबुद्धे ! । कुशलमस्यास्तीति कुशली ॥

(१) मन्त्रकृतामित्यस्य मन्त्रस्रष्टॄणामित्यर्थस्वीकारे वेदस्यापौरुषेयत्वहानिः स्यादतो मन्त्राणां सर्वप्रथमस्मरणकर्तृकत्वात् प्रकारित्वाच्चौपचारिकप्रयोगो मन्त्रकृतामिति बोध्यः। (ह.कु.)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

को०—'कुशलः शिक्षिते त्रिषु'ति । 'क्षेमे च सुकृते चापि पर्याप्ती च मङ्गल-मि'ति च वि० मे० । 'चेतना संविदि क्रियाम् । वाच्यवत् प्राणयुक्ते' इति मे० ॥

ता०—हे सूनृतदर्शिन् ! सूर्यो यथाऽन्धकारे प्रसुप्तं जनं स्वप्रकाशेन प्रबोधयति तथैवाज्ञानान्धकारे प्रसुप्तं त्वामपि यो महर्षिरध्यापितवेदशास्त्रादिजन्यज्ञानप्रकाशेन प्रबोधितवान् स मूर्तिधारिवेदसदृशस्ते गुरुः कुशलयुक्तः किम् ?

द०—हे तीव्रबुद्धि वाले ! ऋषे कौत्स ! मन्त्रों के स्मरण करने वाले ऋषियों में श्रेष्ठ वे आप के गुरुजी महाराज कुशल से तो हैं ? जिनसे कि आप ने सम्पूर्ण ज्ञान उस भाँति प्राप्त किया जिस भाँति लोग सूर्य से प्रबोध प्राप्त करते हैं ॥ ४ ॥

अथ सम्प्रति रघुकर्तृकं पुनर्महर्षेस्तपोविषयककुशलप्रश्नमाह—

कायेन वाचा मनसाऽपि शश्वद्यत्सम्भृतं वासवधैर्यलोपि ।
आपाद्यते न व्ययमन्तरायैः कच्चिन्महर्षे स्त्रिविधं तपस्तत् ॥ ५ ॥

सञ्जी०—कायेनेति । कायेनोपवासादिकृच्छ्रचान्द्रायणादिना वाचा वेदपाठेन मनसा गायत्रीजपादिना कायेन वाचा मनसाऽपि करणेन वासवस्येन्द्रस्य धैर्यं लुम्पतीति वासवधैर्यलोपि । स्वपदापहारशङ्काजनकमित्यर्थः । शश्वत् सदापुनःपुनरित्यर्थः । 'मुहुः पुनः पुनः शश्वदभीक्ष्णमसकृत्समा' इत्यमरः । सम्भृतं सञ्चितं महर्षेर्वरतन्तोस्त्रिविधं वाङ्मनः कायजं तत्तपोऽन्तरायैर्विघ्नैरिन्द्रप्रेरिताप्सरःप्रभृतिभिर्व्ययं नाशं नापाद्यते कच्चिद् न नीयते किम् । 'कच्चित्कामप्रवेदने' इत्यमरः ॥

अ०—कायेन, वाचा, मनसा, अपि, वासवधैर्यलोपि, यत्, शश्वत्, सम्भृतं, महर्षेः, त्रिविधं, तत्, तपः, अन्तरायैः, व्ययं, न, आपाद्यते, कच्चित् ॥ वा०-वासवधैर्यलोपिना येन (तपसा) सम्भृतेन (भूयते), अन्तरायाः व्ययं नापादयन्ति कच्चित् ॥

सुधा—कायेन=देहेन, निराहारादिकृच्छ्रचान्द्रायणादिव्रतेनेत्यर्थः । वाचा=वाण्या, वेदपाठेनेत्यर्थः । मनसा=हृदयेन, गायत्रीजपादिनेत्यर्थः । अपि=समुच्चयेऽर्थे, वासवधैर्यलोपि = इन्द्रधीरताऽपहारि, स्वकीयस्थानापहरणशङ्कोत्पादकमित्यर्थः । यत् = अनिर्दिष्टं, तप इति यावत् । शश्वत् = अभीक्ष्णं, सम्भृतं = सञ्चितं, सम्पादितमित्यर्थः । महर्षेः = अतिसत्यवचसः, वरतन्तोरित्यर्थः । तत् = पूर्वोक्तं, त्रिविधं=त्रिप्रकारकं, मनोवाक्कायजमित्यर्थः । तपः = कृच्छ्रचान्द्रायणवेदपाठगायत्रीजपादात्मकं कर्म, अन्तरायैः=प्रत्यूहैः, स्वपदच्युतिभयादिन्द्रप्रेषितस्वर्वेश्यादिबाधकैरित्यर्थः ।। व्ययं= नाशं, न = नहि, आपाद्यते = प्राप्यते, कच्चित् = किम् ॥

स०—वासवस्य धैर्यमिति वासवधैर्यं तद् लोप्तुं शीलमस्येति वासवधैर्यलोपि ।

को०—'कायो देहः क्लीवपुंसोः स्त्रियां मूर्तिस्तनुस्तनूरि'ति ।

ता०—इन्द्रस्यापि स्वपदापहरणशङ्कया धैर्यविनाशकं कायिकं वाचिकं मानसञ्चेति त्रिविधं यत्तपोऽस्ति तन्महर्षेर्वरतन्तोस्तप इन्द्रप्रेषिताप्सरोगणैर्विघ्नैः वाधैर्वा कदाचिद् न विनाश्यते किम् ॥

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection.

इन्दुः—शरीर से (कृच्छ्रचान्द्रायणादि द्वारा), वाणी से (वेदपाठ द्वारा) और मन से (गायत्रीजपादि द्वारा) इन्द्र के धैर्य का नाश करने वाला (इन्द्र के पद के अपहरण की इच्छा को उत्पन्न करने वाला) जो (तप) बारंबार सञ्चय किया हुआ महर्षि वरतन्तु का तीन प्रकार का (शरीर-वाणी और मन से हुआ) तप है वह विघ्नों से (इन्द्र की भेजी हुई अप्सराओं से या शापों से) कभी नष्ट तो नहीं कराया जाता है ? ॥ १५ ॥

अथ रघुकर्तृकं महर्षेस्तपोवनवर्तिवृक्षविषयककुशलप्रश्नमाह—

आधारबन्धप्रमुखैः प्रयत्नैः संवर्धितानां सुतनिर्विशेषम् ।
कच्चिन्न वाय्वादिरुपप्लवो वः श्रमच्छिदामाश्रमपादपानाम् ॥ ६ ॥

सञ्जी०—आधारेति । आधारबन्धप्रमुखैरालवालनिर्माणादिभिः प्रयत्नैरुपायैः । 'आधार आलवालेऽम्बुबन्धेऽधिकरणेऽपि च' इति विश्वः । सुतेभ्यो निर्गतो विशेषोऽतिशयो यस्मिन्कर्मणि तत्तथा संवर्धितानां श्रमच्छिदां व आश्रमपादपानां वाय्वादिः । आदिशब्दाद्दावानलादिः । उपप्लवो बाधको न कच्चिन्नास्ति किम् ॥

अ०— आधारबन्धप्रमुखैः प्रयत्नैः, सुतनिर्विशेषं, संवर्धितानां, श्रमच्छिदां, वः, आश्रमपादपानां, वाय्वादिः, उपप्लवः, न, कच्चित् ॥ वा०—वाय्वादिनोपप्लवेन न कच्चित् (भूयते) ॥

सुधा—आधारबन्धप्रमुखैः = आलवालबन्धनप्रभृतिभिः, प्रयत्नैः = उपायैः, सुतनिर्विशेषं = पुत्रसमानं, क्रियाविशेषणमिदम्, संवर्धितानां = समेधितानां, पयोदानादिना पुत्रवत् पालितानामित्यर्थः । श्रमच्छिदां = परिश्रमहारिणां, वः = युष्माकम्, आश्रमपादपानां = व्रतिजनमठवृक्षाणां, तपोवनवर्त्तितरूणामित्यर्थः । वाय्वादिः = मारुतप्रभृतिः, झञ्झावातदावानलप्रभृतिरित्यर्थः । उपप्लवः = उत्पातः; नाशक इत्यर्थः । न = नहि, नास्तीत्यर्थः । कच्चित् = किम् ॥

स०—आधारस्य बन्ध आधारबन्धः, स एव प्रमुखं येषान्त आधारबन्धप्रमुखाः तैस्तथोक्तैः । निर्नास्ति विशेषो यस्मिंस्तद् निर्विशेषं, सुतेन निर्विशेषं सुतनिर्विशेषं आश्रमस्य पादपा आश्रमपादपाः तेषां तथोक्तानाम् ॥

ता०—आलवालनिर्माणजलदानादिभिरुपायैः पुत्रवत् पालिता ये युष्माकं तपोवनवर्त्तिनो वृक्षाः कुसुमफलच्छायाप्रदानादिना मार्गपरिक्लान्तानां जनानां श्रमापहारिणः सन्ति, तेषां झञ्झावातदावानलादिभिरुत्पातैर्बाधा तु न भवति किम् ॥

इ०—क्यारी बांधना, जल देना आदि उपायों से पुत्र के समान बढ़ाये गये जो (पथिकों के) थकावट को दूर करने वाले आप लोगों के तपोवन के वृक्ष हैं, उन सबों को झञ्झावात-दावानल आदिक उपद्रवों से क्या बाधा तो नहीं पहुँचती है ? ॥६॥

अथाश्रमस्थमृगीणां कुशलं पृच्छति—

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

क्रियानिमित्तेष्वपि वत्सलत्वादभग्नकामा मुनिभिः कुशेषु ।

तदङ्कशय्याच्युतनाभिनाला कच्चिन्मृगीणामनघा प्रसूतिः ॥ ७ ॥

सञ्जी०—क्रियानिमित्तेष्विति । क्रियानिमित्तेष्वनुष्ठानसाधनेष्वपि कुशेषु मुनिभिर्वत्सलत्वान्मृगस्नेहादभग्नकामाऽप्रतिहतेच्छा । तेषां मुनीनामङ्का एव शय्यास्तासु च्युतानि नाभिनालानि यस्याः सा तथोक्ता मृगीणां प्रसूतिः सन्ततिरनघाऽव्यसना कच्चित् अनपायिनी किमित्यर्थः । 'दुःखैनोव्यसनेष्वघम्' इति यादवः । ते हि व्यालभयाद्दशरात्रमङ्क एव धारयन्ति ॥

अ०—क्रियानिमित्तेषु, अपि, कुशेषु, मुनिभिः, वत्सलत्वाद्, अभग्नकामा, तदङ्कशय्याच्युतनाभिनाला, मृगीणाम्, प्रसूतिः, अनघा, कच्चित् ॥ वा०—अभग्नकामया तदङ्कशय्याच्युतनाभिनालया प्रसूत्याऽनघया (भूयते) ॥

सुधा—क्रियानिमित्तेषु=अनुष्ठानोपायेषु, श्रौतानुष्ठानसाधनसामग्रीष्वित्यर्थः, अपि=समुच्चयेऽर्थे; कुशेषु=दर्भेषु, मुनिभिः=वाचंयमैः, ऋषिभिरित्यर्थः । वत्सलत्वाद्=स्निग्धत्वाद्, मृगविषयकस्नेहादित्यर्थः । अभग्नकामा=अप्रतिरुद्धमनोरथा, तदङ्कशय्याच्युतनाभिनाला=पूर्वोक्तमुन्युत्सङ्गतल्पपतिततुन्दिकानाला, मृगीणां=हरिणीनां प्रसूतिः=अपत्यम्, अनघा=व्यसनशून्या, विपद्रहितेत्यर्थः, कच्चित्=किम् ॥

स०—तेषामङ्कास्तदङ्का त एव शय्यास्तदङ्कशय्याः, तासु च्युतानि तदङ्कशय्याच्युतानि, तानि नाभिनालानि यस्याः सा तदङ्कशय्याच्युतनाभिनाला ॥

ता०—यान् सद्योजातान् हरिणपोतान् मुनयो व्याघ्रादिभयेन निजाङ्के संस्थाप्य परिरक्षन्ति, येषाञ्च नाभिनालानि तदङ्केष्वेव पतितानि सन्ति, श्रौतानुष्ठाननिमित्तककुशान् भक्षयितुं प्रवृत्तानपि यान् मुनयस्तत्स्नेहवशयाः सन्तो निवारयितुं न प्रभवन्ति, एवम्भूतास्ते तपोवनवर्त्तिनो मृगशिशवः किं कुशलिनः सन्ति ? ॥

हि०—अनुष्ठान के निमित्त रखे हुए भी कुशों में जिन मुनियों के स्नेह वश हो जिन के खाने की इच्छा को नहीं रोक सके हैं (खाने दिये हैं), ऐसे उन मुनियों की गोदीरूप बिछौनों पर जिन के नाभिनाल गिर पड़े हैं, ऐसे हरिणियों के हाल के उत्पन्न हुये वे बच्चे विपत्ति से रहित (कुशल से) तो हैं ? ॥ ७ ॥

निर्वर्त्यते यैर्नियमाभिषेको येभ्यो निवापाञ्जलयः पितॄणाम् ।
तान्युञ्छषष्ठाङ्कितसैकतानि शिवानि वस्तीर्थजलानि कच्चित् ॥८॥

सञ्जी०—निर्वर्त्यत इति । यैस्तीर्थजलैर्नियमाभिषेको नित्यस्नानादिर्निर्वर्त्यते निष्पाद्यते । येभ्यो जलेभ्यः । उद्धृत्येति शेषः । पितॄणामग्निष्वात्तादीनां निवापाञ्जलयस्तर्पणाञ्जलयः । 'पितृदानं निवापः स्यात्' इत्यमरः । निर्वर्त्यन्ते । उञ्छानां प्रकीर्णोद्धृतधान्यानां षष्ठैः षष्ठभागैः पालकत्वाद्राजग्राह्यैरङ्कितानि सैकतानि पुलिनानि येषां तानि तथोक्तानि वो युष्माकं तानि तीर्थजलानि शिवानि भद्राणि कच्चित् । अनुपप्लवानि किमित्यर्थः । 'उञ्छो धान्यांशकादानं कणिशाद्यर्जनं शिलम्'

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

इति यादवः। 'षष्ठाष्टमाभ्यां ञ च' इति षष्ठशब्दान्नागार्थेऽन्प्रत्ययः। अत एवापूरणार्थत्वात् 'पूरणगुण०' इत्यादिना न षष्ठीसमासप्रतिषेधः। सिकता येषु सन्ति सैकतानि। 'सिकताशर्कराभ्यां च' इत्यण्प्रत्ययः॥

अ०—यैः, नियमाभिषेकः, निर्वर्त्यते, येभ्यः, पितॄणां,निवापाञ्जलयः, (निर्वर्त्यन्ते) उञ्छषष्ठाङ्कितसैकतानि, वः, तानि, तीर्थजलानि, शिवानि, कच्चित्॥ वा०—यानि नियमाभिषेकं निर्वर्तयन्ति निवापाञ्जलीन् निर्वर्तयन्त्युञ्छषष्ठाङ्कितसैकतैर्वस्तैस्तीर्थजलैः शिवैः (भूयते)॥

सुधा—यैः=अनिर्दिष्टैः, कैश्चित्तीर्थजलैरित्यर्थः। नियमाभिषेकः=व्रतस्नानादिः, निर्वर्त्यते=निष्पन्नः क्रियते, येभ्यः=अनिर्दिष्टेभ्यः, केभ्यश्चित् तीर्थजलेभ्य इत्यर्थः। पितॄणाम्=अग्निष्वात्तादीनां, निवापाञ्जलयः=तर्पणाञ्जलयः, 'निर्वर्त्यन्ते' विभक्तिविपरिणामेनान्वयो बोध्यः। उञ्छषष्ठाङ्कितसैकतानि=कणशो गृहीतधान्यषष्ठभागचिह्नितसिकतामयतटानि, वः=युष्माकं, तीर्थजलानि=ऋषिसेवितसलिलानि, शिवानि=कल्याणानि, कच्चित्=किं, सन्तीति शेषः॥ ८॥

स०—उञ्छानां षष्ठ उञ्छषष्ठः (त०), तैरङ्कितानीत्युञ्छषष्ठाङ्कितानि तानि सैकतानि येषां तान्युञ्छषष्ठाङ्कितसैकतानि॥

को४—सैकतं सिकतामयमि'ति। 'श्वःश्रेयसं शिवं भद्रं कल्याणं मङ्गलं शुभमि'ति चामरः॥

ता०—येषां जलानि भवदीया व्रतसम्बन्धिस्नानादिकाः क्रिया निष्पादयन्ति, येषां जलेभ्यश्च भवन्तः पितॄणां तर्पणाञ्जलीन् निष्पादयन्ति, येषां सिकतामयतटानि नृपार्थं मुनिभिरुञ्छितैः कणशः संगृहीतधान्यानां षष्ठभागरङ्कितानि सन्ति, तेषां वस्तीर्थानां जलानि निरुपद्रवाणि किं सन्ति?॥

हि०—जिन तीर्थों (जिनके जलों से ऋषि लोग नित्य स्नान तर्पणादि क्रिया करते हैं, उसे तीर्थ कहते हैं) के जलों से व्रतसम्बन्धी स्नानादि क्रिया निष्पन्न होती है और जिन तीर्थजलों से पितृगण का तर्पण किया जाता है और जिनके बालुकामय किनारे (कृषकों द्वारा धान्य की राशि उठा ले जाने पर बचे हुए एक एक कणों को उठाकर इकट्ठा किये गये तथा राजा के लिये दिये गये) उञ्छसंज्ञक धान्यों के छठे भागों से सुशोभित हो रहे हैं; ऐसे आप लोगों के तीर्थों के जल उपद्रव से रहित तो हैं?॥ ८॥

अथ रघुर्मुनिजनभक्ष्याणां नीवारादिधान्यानां निरुपद्रवं पृच्छन्नाह—

> नीवारपाकादिकडङ्गरीयैरामृश्यते जानपदैर्न कच्चित्।
> कालोपपन्नातिथिकल्प्यभागं वन्यं शरीरस्थिति साधनं वः॥ ९॥

सञ्जी०—नीवारेति। कालेषु योग्यकालेषूपपन्नानामागतानामतिथीनां कल्प्या भागा यस्य तत्तथोक्तम्। वने भवं वन्यम्। शरीरस्थितिर्जीवितं तस्य साधनं वो युष्माकम्।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

पच्यत इति पाकः फलम् । धान्यमिति यावत् । नीवारपाकादि । आदिशब्दाच्छ्यामाकादिधान्यसंग्रहः जनपदेभ्य आगतैर्जानपदैः । 'तत आगतः' इत्यण् । कडङ्करीयैः । कडङ्करं बुसमर्हन्तीति कडङ्करीयाः । 'कडङ्करो बुसं क्लीबे धान्यत्वचि तुषः पुमान्' इत्यमरः । 'कडङ्करदक्षिणाच्छ च' इति छप्रत्ययः । तैर्गोमहिषादिभिर्नामृश्यते कच्चित् । न भक्ष्यते किमित्यर्थः ।

अ०—कालोपपन्नातिथिकल्प्यभागं, वन्यं, शरीरस्थितिसाधनं, वः, नीवारपाकादि, जातपदैः, कडङ्करीयैः, न, आमृश्यते, कच्चित् । वा०—नीवारपाकादि जानपदाः कडङ्करीया नामृशन्ति ।

सुधा—कालोपपन्नातिथिकल्प्यभागं=योग्यसमयप्राप्तागन्तुककल्पनीयांशं । बलिवैश्वदेवान्ते समागतागन्तुकजनानामपि शरीरयात्रानिर्वर्तनोपायमित्यर्थः । वन्यम्=अरण्योत्पन्नं, शरीरस्थितिसाधनं=देहधारणोपायं, वः=युष्माकं, नीवारपाकादि=तृणधान्यश्यामाकप्रभृति, श्यामाकादिधान्यफलमित्यर्थः । जानपदैः=ग्रामागतैः, कडङ्करीयैः=बुसभक्ष्यैः, गोमहिषादिभिरित्यर्थः । न=नहि, आमृश्यते=खाद्यते, कच्चित्=किम् ॥

स०—पच्यत इति पाकः, नीवाराणां पाको नीवारपाकः, स आदिर्यस्य तद् नीवारपाकादि । कालेषूपपन्ना इति कालोपपन्नाः, ते च तेऽतिथय इति कालोपपन्नातिथयः, तेषां कल्प्याः कालोपपन्नातिथिकल्प्याः, ते भागा यस्य तत् कालोपपन्नातिथिकल्प्यभागं, शरीरस्य स्थितिरिति शरीरस्थितिः, तस्याः साधनमिति शरीरस्थितिसाधनम् ॥

को०—'तृणधान्यानि नीवाराः' इत्यमरः, 'भवेज्जनपदो जानपदोऽपि जनपदेशयोरिति' मे० ॥

ता०—बलिवैश्वदेवान्ते समागतागन्तुकानामपि शरीरधारणोपायं भवतां च भक्ष्यं वनोद्भवं नीवारश्यामाकादिधान्यं ग्रामादागत्य गोमहिषादयो न भक्षयन्ति किम् ॥

हि०—उचित समय पर (बलि वैश्वदेव कर चुकने पर) आये हुये अतिथियों के भागों की भी जिनमें कल्पना की जाती है, ऐसे जङ्गलों में उत्पन्न हुये, शरीर की स्थिति बनाये रखने के कारण-रूप (भक्ष्य पदार्थ) जो आप लोगों के नीवार--सांवा आदि धान्य हैं, उन्हें ग्राम से आये हुये, भूसा खाने वाले गाय-भैंस, तो नहीं खा जाते हैं ॥ ९ ॥

अथ किं गुरुणा प्रसन्नतया गृहस्थाश्रमं प्रवेष्टुं समाप्तविद्यस्त्वमाज्ञप्तः ? इति पृच्छन् रघुराह—

अपि प्रसन्नेन महर्षिणा त्वं सम्यग्विनीयानुमतो गृहाय ।
कालो ह्ययं संक्रमितुं द्वितीयं सर्वोपकारक्षममाश्रमं ते ॥ १० ॥

सञ्जी०—अपीति । किञ्च त्वं प्रसन्नेन सता महर्षिणा सम्यग्विनीय शिक्षयित्वा । विद्यामुपदिश्येत्यर्थः । गृहाय गृहस्थाश्रमं प्रवेष्टुम् । 'क्रियार्थोपपद०' इत्यादिना

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

चतुर्थी । अनुमतोऽप्यनुज्ञातः किम् । हि यस्मात्ते तव सर्वेषामाश्रमाणां ब्रह्मचर्यवानप्रस्थयतीनामुपकारे क्षमं शक्तम् । 'क्षमं शक्ते हिते त्रिषु' इत्यमरः । द्वितीयमाश्रमं गार्हस्थ्यं संक्रमितुं प्राप्तुमयं कालः । विद्याग्रहणानन्तर्यात्तस्येति भावः । 'कालसमयवेलासु तुमुन्' इति तुमुन् । सर्वोपकारक्षममित्यत्र मनुः-(यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः । वर्तन्ते गृहिणस्तद्वदाश्रित्येतर आश्रमाः) इति ॥

अ०—त्वं, प्रसन्नेन, 'सता' महर्षिणा, सम्यग्, विनीय, गृहाय, अनुमतः, अपि । हि, ते, सर्वोपकारक्षमं, द्वितीयम् , आश्रमं, संक्रमितुम् , अयं, कालः, 'अस्ति' । वा०—त्वां प्रसन्नः 'सन्' महर्षिः गृहायानुमतवान् , अनेन कालेन 'भूयते' ॥ १० ॥

सुधा०—किंचेत्यस्यादेरः कर्त्तव्यः । त्वं = भवान्, कौत्स इत्यर्थः । प्रसन्नेन = सन्तुष्टेन, प्रेमपूर्णेनेत्यर्थः । सतेति शेषः । महर्षिणा = अतिसत्यवचसा, त्वद्गुरुणा वरतन्तुनेत्यर्थः । सम्यक् = साधु, विनीय = शिक्षां दत्वा, विद्यां अध्याप्येत्यर्थः । गृहाय = गृहस्थाश्रमं प्रवेष्टुम्, अनुमतः = आज्ञप्तः, अपि = प्रश्नेऽर्थे, किमित्यर्थः । हि = यतः, ते = तव, सर्वोपकारक्षमं = निखिलाश्रमोपकृतिसमर्थं, ब्रह्मचर्यवानप्रस्थसंन्यासाश्रमाणां परमोपकारकमित्यर्थः । द्वितीयं = प्रथमादपरम्, आश्रमं = गार्हस्थ्यं, सङ्क्रमितुं = गन्तुं, स्वीकर्तुमिति भावः । अयम् = एषः, कालः = समयः, ब्रह्मचर्याश्रमे स्थित्वा विद्याग्रहणानन्तरं क्रमप्राप्तस्य गार्हस्थ्याश्रमस्यैवौचित्यादिति भावः ॥

स०—सर्वेषामुपकार इति सर्वोपकारः, तत्र क्षमः सर्वोपकारक्षमः तं तथोक्तम् ॥

को०—'प्रसन्ना स्त्री सुरायां स्यादच्छसन्तुष्टयोस्त्रिषु' इति मे० ॥ १० ॥

ता०—भवतो गुरुः प्रसन्नः सन् वेदशास्त्राणि सम्यगध्याप्य गृहस्थाश्रमं प्रवेष्टुं त्वामादिष्टवान् किम् ? यतोऽधुना सर्वेषाम् ब्रह्मचर्याद्याश्रमाणां परमोपकारकं गार्हस्थ्यमाश्रमं प्रवेष्टुमयमेव समुचितसमयोऽस्ति, अर्थात् गार्हस्थ्यावलम्बनं भवता स्वीक्रियेत चेत्तर्हि समुचितमेव स्यात् ॥

हि०=आप से प्रसन्न होते हुये महर्षि वरतन्तु जी ने भली भांति शिक्षा देकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के लिये क्या आपको आज्ञा दी है ? क्योंकि सभी (ब्रह्मचर्य-वानप्रस्थ-संन्यास) आश्रमों के उपकार करने में समर्थ जो दूसरा गार्हस्थ्य आश्रम है, उसमें प्रविष्ट होने का यह समय है ॥ १० ॥

कुशलप्रश्नं विधायागमनप्रयोजनप्रश्नं चिकीर्षुराह—

तवार्हतो नाभिगमेन तृप्तं मनो नियोगक्रिययोत्सुकं मे ।
अप्याज्ञया शासितुरात्मना वा प्राप्तोसि संभावयितुं वनान्माम् ॥

सञ्जी०—तवार्हत इति । अर्हतः पूज्यस्य प्रशस्तस्य । 'अर्हः प्रशंसायाम्' इति शतृप्रत्ययः । तवाभिगमेनागमनमात्रेण मे मनो तृप्तं न तुष्टम् । किन्तु नियोगक्रिययाऽऽज्ञाकरणेनोत्सुकं सोत्कण्ठम् । 'इष्टार्थोद्युक्त उत्सुकः' इत्यमरः । 'प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया च' इति सप्तम्यर्थे तृतीया । शासितुर्गुरोराज्ञयाऽऽत्मना स्वतो वा ।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

'प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्' इति तृतीया । मां सम्भावयितुं वनात्प्राप्तोऽसि । गुर्वर्थं स्वार्थं वाऽऽगमनमित्यर्थः ॥

अ०—अर्हतः, तव, अभिगमेन, मे, मनः, न, तृप्तं, 'किन्तु', नियोगक्रियया, उत्सुकं, शासितुः, आज्ञया, अपि, आत्मना, वा, मां, सम्भावयितुं, वनात्, प्राप्तः, असि ।

वा०—मनसा न तृप्तेन (भूयते) उत्सुकेन वनात् प्राप्तेन 'त्वया' भूयते ॥११॥

सु०—अर्हतः = पूज्यस्य, तव = भवतः, अभिगमेन=आगमनेन, अत्रागमनमात्रेणेत्यर्थः । मे = मम, मनः = हृदयं, न=नहि, तृप्तं=प्रीतम् । किन्त्विति शेषः । नियोगक्रियया = आदेशकरणेन, उत्सुकं=सोत्कण्ठम् । शासितुः = विनेतुः, गुरोरित्यर्थः । आज्ञया = निदेशेन, अपि=प्रश्नेऽर्थे, आत्मना-स्वतः, वा=विकल्पेऽर्थे, मां=रघुं, सम्भावयितुं = सत्कर्तुं, गौरवास्पदं कर्तुमित्यर्थः । वनाद् = विपिनात्, तपोवनादित्यर्थः । प्राप्तः = आगतः, असि = वर्तते ॥

को०—'अथार्हन् स्यात् पूज्ये तीर्थकरेऽपि चे'त्यने० ॥ ११ ॥

ता०—हे कौत्स ! सम्प्रति तवागमनमात्रेणैव मे मनो न तथाविधां सन्तुष्टिमावहति यथा त्वदाज्ञापालनेन, अत इत्यहं ज्ञातुं समुत्सुकोऽस्मि, यत्त्वं वनान्मां कृतकृत्यं कर्तुं किं गुर्वर्थमागतोऽथवा स्वकीयार्थम् ? अर्थात्—स्वागमनप्रयोजनं वदेति भावः ।

इ०—पूजनीय आप के (आप सरीखे पूजनीय के) आने मात्र से ही मेरा मन सन्तुष्ट नहीं हुआ । आप (क्या चाहते हैं) आज्ञा करें इस विषय में मेरी मन अत्यन्त उत्कण्ठित है । आप क्या गुरु की आज्ञा से अथवा अपनी इच्छा से ही मुझे कृतार्थ करने के लिये जङ्गल से आये हैं ? अर्थात् आप कैसे आये ? इसे कहें ॥

अथ पूर्वोक्तं रघुवचः श्रुत्वा तदुत्तरं दातुकामतया कौत्सो वक्ष्यमाणप्रकारेण तमुवाचेत्याह—

इत्यर्घ्यपात्रानुमितव्ययस्य रघोरुदारामपि गां निशम्य ।
स्वार्थोपपत्तिं प्रति दुर्बलाशस्तमित्यवोचद्वरतन्तुशिष्यः ॥ १२ ॥

सञ्जी०—इतीति । अर्घ्यपात्रेण मृन्मयेनानुमितो व्ययः सर्वस्यागो यस्य तस्य रघोरित्युक्तप्रकारामौदार्ययुक्तामपि गां वाचम् । 'मनो नियोगक्रिययोत्सुकं मे' इत्येवंरूपाम् । 'स्वर्गेषु पशुवाग्वज्रदिङ्नेत्रघृणिभूजले । लक्ष्यदृष्ट्योः स्त्रियां पुंसि गौः' इत्यमरः । निशम्य श्रुत्वा वरतन्तुशिष्यः कौत्सः स्वार्थोपपत्तिं स्वकार्यसिद्धिं प्रति दुर्बलाशः सन्मृन्मयपात्रदर्शनाच्छिथिलमनोरथः सन्तं रघुमिति वक्ष्यमाणप्रकारेणावोचत् ॥

अ०—अर्घ्यपात्रानुमितव्ययस्य, रघोः, इति, उदाराम्, अपि, गां, निशम्य, वरतन्तुशिष्यः, स्वार्थोपपत्तिं, प्रति, दुर्बलाशः, 'सन्' तम्, इति, अवोचत् ॥

वा०—वरतन्तुशिष्येण दुर्बलाशेन 'सता' इत्यवोच्यत ॥

सु०—अर्घ्यपात्रानुमितव्ययस्य = अर्घ्यपात्रेणानुमितः व्ययः यस्य, मृन्मयार्घ्यभाजनावलोकनेनैव ज्ञातविश्वजिद्यज्ञसर्वस्वत्यागस्येत्यर्थः । रघोः = दिलीप-

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

सूनोः विश्वजिद् यज्ञे सर्वस्वत्यागकारिणो राज्ञ इत्यर्थः। इति = उक्तप्रकाराम्, उदाराम् = औदार्योपेताम्, अपि = युक्तपदार्थे, गां = वाचं, 'मनो नियोगक्रिययोत्सुकं मे' इत्येवंरूपामिति भावः। निशम्य=श्रुत्वा, वरतन्तुशिष्यः=तन्नामकमहर्षिच्छात्रः, कौत्स इत्यर्थः। स्वार्थोपपत्तिं=निजप्रयोजनपूर्तिं, निजेष्टसिद्धिमित्यर्थः। प्रति=अर्थार्थी, दुर्बलाशः=मिथिलतृष्णः, मृत्तिकानिर्मितार्घ्यभाजनावलोकनाच्छिथिलाभिलाष इत्यर्थः। सन्निति शेषः। तं=पूर्वोक्तं, रघुमित्यर्थः। इति=वक्ष्यमाणप्रकारेण, अवोचत्=ऊवाच॥

स०—अर्घार्थं मृण्मयमर्घ्यं तस्य पात्रमर्घ्यपात्रम् तेनानुमितोऽर्घ्यपात्रानुमितः, स व्ययो यस्य सोऽर्घ्यपात्रानुमितव्ययः तस्य तथोक्तस्य। स्वस्यार्थः स्वार्थः तस्योपपत्तिः स्वार्थोपपत्तिः तां तथोक्ताम्॥

को०—'अर्थस्यापगमे व्ययः' इत्यम०। 'आशा तृष्णादिशोः स्त्रियामि'ति मे०। आशातृष्णाऽपि चायता' इत्यमरः। 'प्रति प्रतिनिधावित्थंभूताख्यानाभिमुख्ययोः। मात्रार्थभागवीप्सासु लक्षणप्रतिदानयोरि'ति मे०॥ १९॥

सा०—वरतन्तुशिष्यः कौत्सो मृन्मयपात्रदर्शनादेव तस्य धनाभावं ज्ञात्वा केवलं 'मनोनियोगक्रिययोत्सुकं मे' इत्येवरूपामौदार्ययुक्तां वाणीं श्रुत्वा च स्वगुरुदक्षिणानिमित्तकधनप्राप्तौ भृशं नैराश्यमवलम्बमानः सन् रघुं प्रति वक्ष्यमाणप्रकारेणोवाच॥

हि०—अर्घ्यसम्बन्धी (मृन्मय) पात्र से ही जिसके सम्पूर्ण धन के खर्च हो जाने का पता लग गया है, ऐसे उन रघु महाराज की 'हमारा मन आप की आज्ञा पालन करने के लिये उत्कण्ठित है' इस तरह की उदारता से भरी हुई वाणी सुनकर भी वरतन्तु महर्षि के शिष्य कौत्स ऋषि अपने कार्यसिद्धि की ओर से निराश होते हुए, उनसे आगे कहे जाने वाले वचन इस प्रकार कहे॥ १२॥

अथ कौत्सो रघोः प्रश्नोत्तरं दातुकामतया तं प्रति भाषमाण आदौ 'नः सर्वप्रकारेण सर्वत्र कुशलमस्ती'त्याह—

सर्वत्र नो वार्तमवेहि राजन्नाथे कुतस्त्वय्यशुभं प्रजानाम्।
सूर्ये तपत्यावरणाय दृष्टेः कल्पेत लोकस्य कथं तमिस्रा॥ १३॥

सञ्जी—सर्वत्रेति। हे राजन्! त्वं सर्वत्र नोऽस्माकं वार्तं स्वास्थ्यमवेहि जानीहि। 'वार्तं फल्गुन्यरोगे च' इत्यमरः। 'वार्तं पाटवमारोग्यं भव्यं स्वास्थ्यमनामयम्' इति यादवः। न चैतदाश्चर्यमित्याह—नाथ इति। त्वयि नाथ ईश्वरे सति प्रजानामशुभं दुःखं कुतः। तथा हि। अर्थान्तरं न्यस्यति—सूर्य इत्यादिना। सूर्ये तपति प्रकाशमाने सति तमिस्रा तमस्ततिः। 'तमिस्रं तिमिरं रोगे तमिस्रा तु तमस्ततिः। कृष्णपक्षनिशायां च' इति विश्वः। 'तमिस्रम्' इति पाठे तमिस्रं तिमिरम्। 'तमिस्रं तिमिरं तमः' इत्यमरः। लोकस्य जनस्य। 'लोकस्तु भुवने जने' इत्यमरः। दृष्टेरावरणाय कथं कल्पेत। दृष्टेरावरणं [illegible] ... नमःस्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगाच' इत्यनेन चतुर्थी। 'अलमिति पर्याप्त्यर्थग्रहणम्' इति भगवान्भाष्य-

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

कारः । कल्पेत समर्थयेतेत्यर्थं क्लृपि सम्पद्यमानो चतुर्थीति वक्तव्यात् ॥

अ०—राजन् !, एवं सर्वत्र, नः, वार्तम्, अवेहि, त्वयि, नाथे, 'सति' प्रजानाम्, अशुभं, कुतः, 'तथा हि', सूर्ये, तपति, 'सति', तमिस्रा, लोकस्य, दृष्टेः, आवरणाय, कथं, कल्पेत ॥ वा०—'त्वया' 'वार्तमवेयताम्' अशुभेन 'भूयते', तमिस्रया कल्प्येत ॥

सुधा—राजन् ! = हे नरेन्द्र ! हे रघो ! इत्यर्थः । त्वमित्यस्य कर्तृपदस्य क्रियया-ऽऽक्षेपः कर्तव्यः । सर्वत्र = सर्वस्मिन्, यद्विषये त्वया कुशलं पृष्टं तत्तद्विषय इत्यर्थः । नः=अस्माकं, वार्तम्=अनामयं, कुशलमित्यर्थः । अवेहि=जानीहि । सर्वत्रायं कुशलमेतत्र चिह्नमिति प्रदर्शयन्नाह—त्वयि नाथ इति । त्वयि=भवति रघावित्यर्थः । नाथे=प्रभौ, सतीति शेषः । प्रजानां=जनानाम्, अशुभं=दुःखं, कुतः=कस्मात्, न कुतोऽपीत्यर्थः । तथा हीति शेषः । सूर्ये=भानौ, तपति=देदीप्यमाने, प्रकाशमान इत्यर्थः । सतीति शेषः । तमिस्रा=तमस्ततिः, अन्धकारसमूह इत्यर्थः । कर्तृपदमेतत् । लोकस्य=जनस्य, दृष्टेः=लोचनस्य, आवरणाय=रोधाय, कथं=केन प्रकारेण, कल्पे-त=सम्पद्येत, लोचनमावरितुं न पर्याप्तमित्यर्थः ॥

स०—न शुभमित्यशुभम् । तमोबहुलमस्त्यस्यामिति तमिस्रा ॥

को०—'लोकस्तु भुवने जने' इत्यमरः । 'तमिस्रं तिमिरे कोपे पुंसि स्त्री तु तमस्ततौ । कृष्णपक्षनिशायां चे'ति मेदिनी ॥

ता०—हे राजन् ! सूर्ये प्रकाशमाने सति यथाऽन्धकारसमूहो नश्यत्येव, तथैव त्वयि प्रजानां रक्षितरि सति तेषाममङ्गलं सर्वं नष्टम्, अतः सर्वत्रास्माकं कुशलमस्ति ॥

इन्दुः—हे राजन् ! सब विषयों में हमलोगों का कुशल है यह जानो, तुम्हारे ऐसे राजा के रहने पर प्रजाओं को दुःख कहाँ से है, अर्थात् कहीं से भी नहीं है । क्योंकि सूर्य के प्रकाशमान होने पर अन्धकार-समूह लोगों की दृष्टि को ढंकने के लिये किसी प्रकार भी समर्थ नहीं होता है ॥ १३ ॥

'तवार्हतः' (५।१२) इत्यादिनोक्तं यत्तत्र चिह्नमित्याह—

भक्तिः प्रतीक्ष्येषु कुलोचिता ते पूर्वान्महाभाग ! तयातिशेषे ।
व्यतीतकालस्त्वहमभ्युपेतस्त्वामर्थिभावादिति मे विषादः ॥ १४ ॥

सञ्जी०—भक्तिरिति । प्रतीक्ष्येषु पूज्येषु । 'पूज्यः प्रतीक्ष्यः' इत्यमरः । भक्तिरनुराग-विशेषस्ते तव कुलोचिता कुलाभ्यस्ता । 'अभ्यस्तेऽप्युचितं न्याय्यम्' इति यादवः । हे महाभाग ! सार्वभौम ! तथा भवत्या पूर्वानतिशेषेऽतिवर्तसे । किन्तु सर्वत्र वार्तं चेत्तर्हि कथं खेदखिन्न इव दृश्यसेऽत आह—व्यतीतेति । अहं व्यतीतकालोऽतिक्रान्त-कालः सन्नर्थिभावात्त्वामभ्युपेत इति मे मम विषादः ।

अ०—प्रतीक्ष्येषु, भक्तिः, ते, कुलोचिता, महाभाग !, तया, पूर्वान् , अतिशेषे, तु, अहं, व्यतीतकालः, 'सन्', अर्थिभावात्, त्वाम्, अभ्युपेतः, इति, मे, विषादः, 'अस्ति' । । वा०—भक्त्या कुलोचितया 'भूयते' पूर्वं त्वयाऽतिशय्यन्ते, मया

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu. Collection.

व्यतीतकालेन 'सता' अभ्युपेतेन 'भूयते', विषादेन 'भूयते' ॥

सु०—प्रतीच्येषु = पूज्येषु, भक्तिः=श्रद्धा, ते = तव, कुलोचिता = वंशाभ्यस्ता, सर्व एव ते पूर्वजा राजानः पूज्यजनेषु श्रद्धावन्तोऽभूवन्निति भावः। महाभाग ! हे अतिभाग्यशालिन् , हे चक्रवर्तिन् ! रघो ! इत्यर्थः। तया=पूर्वोक्तया, भक्त्येत्यर्थः। पूर्वजान्=प्रागुत्पन्नान्, त्वदपेक्षया प्राचीनान् सूर्यवंश्यान्, राज्ञ इत्यर्थः। अतिशेषे=अतिक्राम्यसि, तु=किन्तु, सर्वत्रत्ये कुशले सत्यपि यन्मे विषादस्तत्रिवत्यर्थः। अहं=कौत्सः, व्यतीतकालः=अतिक्रान्तसमयः, सन्निति शेषः। अर्थिभावाद्=याचकतया, त्वाम्=भवन्तं, रघुमीत्यर्थः। अभ्युपेतः=प्राप्तः, अस्मीति शेषः। इति=हेत्वर्थे, मे=मम, विषादः=शोकः, अस्तीति शेषः ॥

स०—व्यतीतः कालो यस्यासौ व्यतीतकालः। अर्थिनो भावोऽर्थिभावः तस्मात्तथोक्तात् ॥

को०—'भागो रूपार्धके भाग्यैकदेशयोः' इत्यने० ॥

ता०—हे परमसौभाग्यशालिन् रघो ! ते कुले सर्वे पूर्वजा राजनः पूज्येषु श्रद्धावन्तोऽभूवन्, परन्तु त्वं तानपि स्वकीयपूज्यविषयकश्रद्धयाऽतिक्राम्यसि यच्चाहं सर्वस्वदानानन्तरं त्वां प्राप्तोऽस्मीति मे महान् विषादोऽस्ति ॥

हि०—'पूज्य जनों में भक्ति रखना' यह आपके कुल में चला आया है, अतः हे परम भाग्यशाली रघु महाराज ! आप उस (पूज्य-विषयक भक्ति) से अपने पूर्वजों को भी लांघ गये हैं,-अर्थात् पूज्यजनों में भक्ति रखने में आप अपने पूर्वजों से भी बढ़कर हैं, किन्तु सर्वत्र कुशल यदि है, तो मैं उदास क्यों हूँ, ऐसा यदि आप पूछें तो मैं समय बीत जाने पर याचकरूप में आपके पास आया, इसी से मुझे उदासी है॥

अथ धनप्राप्तौ निराशः सन्नपि कौत्सो रघुं प्रशंसन्नाह—

शरीरमात्रेण नरेन्द्र ! तिष्ठन्नाभासि तीर्थप्रतिपादितर्द्धिः।
आरण्यकोपात्तफलप्रसूतिः स्तम्बेन नीवार इवावशिष्टः ॥ १५ ॥

सञ्जी०—शरीरमात्रेणेति। हे नरेन्द्र! तीर्थे सत्पात्रे प्रतिपादिता दत्तर्द्धिर्येन स तथोक्तः। 'योनौ जलावतारे च मन्त्र्याद्यष्टादशस्वपि। पुण्यक्षेत्रे तथा पात्रे तीर्थं स्याद्दर्शनेष्वपि' इति हलायुधः। शरीरमात्रेण तिष्ठन्। आरण्यका अरण्ये भवा मनुष्या मनुष्यप्रमुखाः। 'अरण्यान्मनुष्ये' इति वुञ्प्रत्ययः। तैरुपात्ता फलमेव प्रसूतिर्यस्य स स्तम्बेन काण्डेनावशिष्टः (प्रकृत्यादित्वात्तृतीया)। नीवार इव। आभासि शोभसे ॥

अ०—नरेन्द्र !, तीर्थप्रतिपादितर्द्धिः, 'त्वं' शरीरमात्रेण, तिष्ठन्, आरण्यकोपात्तफलप्रसूतिः, स्तम्बेन, अवशिष्टः, नीवारः, इव, 'त्वम्' आभासि ॥ वा—तीर्थप्रतिपादितर्द्धिना 'त्वया' तिष्ठताऽऽरण्यकोपात्तफलप्रसूतिनाऽवशिष्टेन नीवारेणेवाभायते ॥

सु०—हे नरेन्द्र!=मनुष्येश्वर !, हे रघो! इत्यर्थः। तीर्थप्रतिपादितर्द्धिः=सत्पात्रदत्तसमृद्धिः, त्वमिति शेषः। शरीरमात्रेण=केवलदेहेन, तिष्ठन्=वर्तमानः, आरण्यकोपा-

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

त्फलप्रसूतिः वन्यजनगृहीतफलप्रसवः । मुनिजनप्रभृतिगृहीतस्य इत्यर्थः । स्तम्बेन=काण्डेन, अवशिष्टः = उर्वरितः, स्तम्बमात्रावशेष इत्यर्थः । नीवारः = मुनिधान्यविशेषः, इव = यथा, अभासि = विराजसे ॥

स०—शरीरमेव शरीरमात्रम् तेन तथोक्तेन तीर्थे प्रतिपादिता तीर्थप्रतिपादिता साऋद्धिर्यस्य स तीर्थप्रतिपादितर्द्धिः। फलमेव प्रसूतिः फलप्रसूतिः अरण्ये भवा आरण्यकाः तैरुपात्ता आरण्यकोपात्ता, सा फलप्रसूतिर्यस्य स आरण्यकोपात्तफलप्रसूतिः॥

को०—'तीर्थं शास्त्राध्वरक्षेत्रोपायनारीरजःसु च । अवतारर्षिजुष्टाम्बुपात्रोपाध्यायमन्त्रिषु' इति मेदिनी । 'स्तम्बो गुल्मे तृणादीनामकाण्डद्रुमगुच्छयोः' इति हैमः ॥

ता०—हे राजन् ! सत्पात्रे सर्वस्वदानेन सम्प्रति केवलेन शरीरेणापि तिष्ठंस्त्वं तथा शोभसे, यथा वनवासिभिर्मुनिप्रमुखैर्गृहीतो नीवारो गुल्ममात्रावशिष्टः शोभते ॥

हि०—हे राजन् ! सत्पात्रों को अपनी सारी सम्पत्ति दे देने में केवल बचे हुये शरीर से स्थित आप वन के रहनेवाले मुनि जनआदि से फल तोड़ लिये गये डंठल मात्र से बचे हुये नीवार नामक मुनिधान्य के समान सुशोभित हो रहे हैं ॥ १५ ॥

कौत्सो रघोर्मखजस्य निर्धनत्वस्य समीचीनत्वं पुनर्दृष्टान्तान्तरेण प्रदर्शयन्नाह—

स्थाने भवानेकनराधिपः सन्नकिञ्चनत्वं मखजं व्यनक्ति ।
पर्यायपीतस्य सुरैर्हिमांशोः कलाक्षयः श्लाघ्यतरो हि वृद्धेः ॥१६॥

सञ्जी०--स्थान इति । भवानेकनराधिपः सार्वभौमः सन् । मखजं मखजन्यम् ।|न विद्यते किंचन यस्येत्यकिंचनः । (मयूरव्यंसकादित्वात्तत्पुरुषः) । तस्य भावस्तत्त्वं निर्धनत्वं व्यनक्ति प्रकटयति । स्थाने युक्तम् । 'युक्ते द्वे सांप्रतं स्थाने' इत्यमरः । तथाहि सुरैः देवैः पर्यायेण क्रमेण पीतस्य हिमांशोः कलाक्षयोवृद्धेरुपचयाच्छ्लाघ्यतरो हि वरः खलु । (मणिः शाणोल्लीढः समरविजयी हेतिनिहतो मदक्षीणो नागः शरदि सरितः श्यानपुलिनाः । कलाशेषश्चन्द्रः सुरतमृदिता बालवनिता तनिम्ना शोभन्ते गलितविभवाश्चार्थिषु नृपाः ॥) इति भावः । अत्र कामन्दकः (धर्मार्थक्षीणकोषस्य क्षीणत्वमति शोभते । सुरैः पीतावशेषस्य कृष्णपक्षे विधोरिव ॥) इति ॥

अ०—भवान्, एकनराधिपः, सन् , मखजम् , अकिञ्चनत्वं, व्यनक्ति, स्थाने, 'तथाहि' सुरैः, पर्यायपीतस्य, हिमांशोः, कलाक्षयः, वृद्धेः, श्लाघ्यतरः, हि, 'अस्ति'।

वा०—भवतैकनराधिपेन सता व्यज्यते कलाक्षयेण श्लाघ्यतरेण 'भूयते'॥

सु०-भवान्=त्वं, रघुरिति यावत् । एकनराधिपः मुख्यमनुजेश्वरः, चक्रवर्तीत्यर्थः। सन्=वर्तमानः, मखजं = क्रतुजन्यम् , अकिञ्चनत्वं=निर्धनतां, धनराहित्यमित्यर्थः । व्यनक्ति=आविष्करोति, दर्शयसीत्यर्थः। इति यत्तदिति शेषः । स्थाने=युक्तं, तथाहीति शेषः । सुरैः=अमरैः, पर्यायपीत(१)स्य=क्रमाचमितस्य, हिमांशोः=चन्द्रस्य, कला-

(१) देवानां क्रमेण चन्द्रकलानां पानक्रम तद् = यथा— प्रथमां पिबते वह्निर्द्वितीयां पिबते रविः । विश्वेदेवास्तृतीयान्तु चतुर्थीं सलिलाधिपः ॥ पञ्चमीन्तु वषट्कारः षष्ठीं पिबति

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

क्षयः=षोडशांशनाशः, वृद्धेः=वर्धनात्, वृद्ध्यपेक्षयेत्यर्थः । श्लाघ्यतरः=श्रेयान्, अत्युत्तम इत्यर्थः । हि=खलु, अवधारणेऽर्थेऽव्ययमेतत् । अस्तीति शेषः ॥

स०—नराणामधिपो नराधिपः, एकश्चासौ नराधिपस्तथोक्तः ॥

को०—'कला स्यान्मूलरैवृद्धौ शिल्पादावंशमात्रके । षोडशांशे च चन्द्रस्य कलनाकालमानयोः' इति मेदिनी ॥

ता०—यथा देवैः क्रमेण पीतस्य चन्द्रस्य कलाह्रासो गौरवमेव वर्धयति, तथैव विश्वजिद्यज्ञे सर्वस्वदानजन्यं निर्धनत्वमपि भवतां गौरवमेव वर्धयति ॥

हि०—आप 'अद्वितीय महाराज (चक्रवर्ती) होते हुये भी जो विश्वजिद् यज्ञ में सर्वस्व दान करने से उत्पन्न निर्धनता को प्रकट कर रहे हैं, वह उचित है, (बहुत भला मालूम पड़ता है), क्योंकि–देवताओं से क्रम से पीये गये चन्द्रमा की कलाओं का क्षय होना बढ़ने की अपेक्षा निश्चय करके अधिकतर प्रशंसनीय होता है ॥१६॥

कौत्सो रघोर्मखज निर्धनत्वं स्तुत्वाऽन्यतो गुरुधनमाहर्तुं स्वकीयमन्यत्र गमनं सम्प्रति विज्ञापयन्नाह—

तदन्यतस्तावदनन्यकार्यो गुर्वर्थमाहर्तुमहं यतिष्ये ।
स्वस्त्यस्तु निर्गलिताम्बुगर्भं शरद्घनं नार्दति चातकोऽपि ॥१७॥

सञ्जी०—तदिति । तत्तस्मात्तावदनन्यकार्यः । 'यावत्तावच्च साकल्येऽवधौ मानेऽवधारणे' इति विश्वः । प्रयोजनान्तररहितोऽहमन्यतो वदान्यान्तराद् गुर्वर्थं गुरुधनमाहर्तुमर्जयितुं यतिष्ये उद्योक्ष्ये । ते तुभ्यं स्वस्ति शुभमस्तु । 'नमःस्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगाच्च' इत्यनेन चतुर्थी । तथाहि । चातकोऽपि । (धरणीपतितं तोयं चातकानां रुजाकरम्) इति हेतोरनन्यगतिकोऽपीत्यर्थः । निर्गलितोऽम्बेव गर्भो यस्य तं शरद्घनं नार्दति न याचते । 'अर्द गतौ याचने च' इति धातुः । 'याचनाऽर्थेऽरणेऽर्दनम्' इति यादवः ॥

अ०—तद्, तावद्, अनन्यकार्यः, अहम्, अन्यतः, गुर्वर्थम्, आहर्तुं, यतिष्ये, ते, स्वस्ति, अस्तु 'तथाहि' चातकः, अपि, निर्गलिताम्बुगर्भं, शरद्घनं, न, अर्दति ॥

वा०—अनन्यकार्येण मया यतिष्ये, चातकेनापि निर्गलिताम्बुगर्भः शरद्घनो नार्द्यते ॥

सुधा०—तत्=तस्माद्, निर्धनतया त्वत्तो द्रव्याप्त्यसम्भवादित्यर्थः । तावद्=अवध्यर्थे, यावदभीष्टद्रव्याप्तिर्न स्यात्तावदित्यर्थः । अनन्यकार्यः=कार्यान्तररहितः, अहं=कौत्सः, अन्यतः=अन्यस्माद् , वदान्यान्तरादित्यर्थः । गुर्वर्थम् = उपाध्यायवित्तं, चतुर्दशकोटिमितमित्यर्थः । आहर्तुम्=उपार्जयितुं, यतिष्ये='उद्योक्ष्ये, प्रयत्नं

वासवः । सप्तमीमृगयो दिव्या अष्टमीमज एकपात् ॥ नवमीं कृष्णपक्षस्य यमः प्राश्नाति वै कलाम् । दशमीं पिबते वायुः पिबत्येकादशीमुमा ॥ द्वादशीं पितरः सर्वे समं प्राश्नन्ति भागशः । त्रयोदशीं धनाध्यक्षः कुबेरः पिबते कलाम् ॥ चतुर्दशीं पशुपतिः पञ्चदशीं प्रजापतिः इति ।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

करिष्यामीत्यर्थः । ते = तुभ्यं, रघव इत्यर्थः । स्वस्ति = कल्याणम्, अस्तु=भवतात्, तथाहीति शेषः । चातकः—स्तोककः, पपीहेति नाम्ना लोके ख्यातः पक्षिविशेष इति भावः । अपि = समुच्चयेऽर्थे, निर्गलिताम्बुगर्भं = प्रस्रुतजलशालिमध्यं, जलरहित-मध्यभागमित्यर्थः । शरद्घनं=शरदृतुसम्बन्धिमेघं, न=नहि, अर्दति=याचते ॥

स०—अन्यच्च तत्कार्यमन्यकार्यम् अविद्यमानमन्यकार्यं यस्य सोऽनन्यकार्यः । निर्गलितमम्बु यस्मात्स निर्गलिताम्बुः, निर्गलिताम्बु गर्भो यस्य स तं तथोक्तम् ।

को०—'शरत् स्त्री वत्सरेऽप्यृतौ' इति मे० । 'अथ सारङ्गः स्तोककश्चातकः समाः' इत्य० ।

ता०—तवनिर्धनतयाऽहं, यावदभीष्टद्रव्यप्राप्तिर्न भवेत् तावत् वदान्यान्तराद् गुरोर्दक्षिणास्वरूपं चतुर्दशकोटिमितं द्रव्यमर्जयितुं प्रयत्नशीलो भवेयं, तथाहि=यदा चातकः पक्षिविशेषोऽनन्यगतिकः सन्नपि जलरहितं शरन्मेघं न याचते, तदाऽस्मादृशो मनुष्यः कथं याचेत् ? ॥

इन्दु०—इस (आप की निर्धनता के) कारण से (जबतक अभीष्ट द्रव्य की प्राप्ति न होवे) तब तक गुरु दक्षिणा देने के अतिरिक्त दूसरा कोई प्रयोजन नहीं रहने वाला मैं (कौत्स ऋषि) दूसरे किसी दाता के यहाँ से गुरु वरतन्तु महर्षि के लिये धन उपार्जन करने के लिये कोशिश करूंगा, आपका कल्याण होवे और (पृथ्वी पर गिरा हुआ जल रोगकारक होने से केवल मेघ का ही जल पीने वाला) चातक (पपीहा) पक्षी भी जब जलरहित (जिसके मध्यभाग से जल निकल गया है, शरत् काल के) मेघ से जल की याचना नहीं करता है तब मनुष्य हो कर हमारा मांगना आप से उचित नहीं ॥ १७ ॥

पूर्वोक्तवाक्यमुक्त्वा गन्तुकामं कौत्सं निषिध्य, गुरवे प्रदेयं वस्तु किमात्मकं किम्परिमाणं वाऽस्तीति तं रघुः पृच्छन्नाह—

एतावदुक्त्वा प्रतियातुकामं शिष्यं महर्षेर्नृपतिर्निषिध्य ।
किं वस्तु विद्वन् ! गुरवे प्रदेयं त्वया कियद्वेति तमन्वयुङ्क्त ॥ १८ ॥

सञ्जी०—एतावदिति । एतावद्वाक्यमुक्त्वा प्रतियातुं कामो यस्य तं प्रतियातुकामं गन्तुकामम् । 'तुंकामनसोरपि' इति मकारलोपः । महर्षेर्वरतन्तोः शिष्यं कौत्सं नृपती रघुर्निषिध्य निवार्य । हे विद्वन् ! त्वया गुरवे प्रदेयं वस्तु किं किमात्मकं कियत् किं परिमाणं वा । इत्येवं तं कौत्समन्वयुङ्क्तापृच्छत् । 'प्रश्नोऽनुयोगः पृच्छा च' इत्यमरः ।

अ०—एतावद् उक्त्वा, प्रतियातुकामं, महर्षेः, शिष्यं, नृपतिः, निषिध्य, विद्वन् !, त्वया, गुरवे, प्रदेयं वस्तु, किं, कियत्, वा, इति, तम्, अन्वयुङ्क्त ॥ वा०—प्रति-यातुकामो महर्षेः शिष्यो नृपतिना प्रदेयेन वस्तुना केन कियता वा 'भूयते' इति सोऽन्वयुज्यत ॥

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

सुधा—एतावद्=इयत्, पूर्वोक्तं वाक्यमित्यर्थः। उक्त्वा=कथयित्वा, प्रतियातुकामं=गन्तुमनसम्, अन्यत्र जिगमिषुमित्यर्थः। महर्षेः=अतिसत्यवचसः, वरतन्तोरित्यर्थः। शिष्यं = छात्रं, कौत्समित्यर्थः। नृपतिः = मनुजेश्वरः, रघुरित्यर्थः। निषिध्य=निवार्य, हे विद्वन्! हे प्राज्ञ!, त्वया = भवतः, गुरवे = उपाध्यायाय, वरतन्तुमहर्षय इत्यर्थः। प्रदेयं=प्रदानार्हं, वस्तु = पदार्थः, किं=किं रूपं, किंवत्=किम्परिमाणं, वा = समुच्चयेऽर्थे, अस्तीति शेषः। इति=एवं, तं=पूर्वोक्तं, कौत्समित्यर्थः। अन्वयुङ्क्त = पृष्टवान्।

स०—प्रतियातुं कामो यस्य स प्रतियातुकामः तं तथोक्तम्।

को०—'कामं बाढेऽनुमतिरेतसोः। कामः स्मरेच्छाकाम्येषु' इति हैमः। 'छात्रान्तेवासिनौ शिष्ये' इत्यमरः॥

ता०—एवं पूर्वोक्तप्रकारेणोक्त्वाऽन्यत्र जिगमिषुं कौत्सं रघुर्निवार्य हे विद्वन्! भवता गुरवे दक्षिणास्वरूपं यद् वस्तु दित्स्यते, तस्य किं स्वरूपं किं मानं वाऽस्तीति तं पप्रच्छ॥

इन्दुः—इतनी बात कह कर जाने की इच्छा करने वाले महर्षि वरतन्तु के शिष्य कौत्स ऋषि को महाराज रघु ने रोक कर—हे विद्वन्! आप को जो गुरुजी के लिये देना है, वह वस्तु कौनसी और कितनी है, यह उनसे पूछा॥ १८॥

अथ कौत्सो रघोः प्रश्नोत्तरं दित्सुराह—

ततो यथावद्विहिताध्वराय तस्मै स्मयावेशविवर्जिताय।
वर्णाश्रमाणां गुरवे स वर्णी विचक्षणः प्रस्तुतमाचचक्षे॥ १९॥

सञ्जी०—तत इति। ततो यथावद्यथाऽर्हम्। अर्हार्थे वतिः। विहिताध्वराय विधिवदनुष्ठितयज्ञाय। सदाचारायेत्यर्थः। स्मयावेशविवर्जिताय गर्वाभिनिवेशशून्याय। अनुद्धतायेत्यर्थः। वर्णानां ब्राह्मणादीनामाश्रमाणां ब्रह्मचर्यादीनां च गुरवे नियामकाय। 'वर्णाः स्युर्ब्राह्मणादयः' इति। 'ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो भिक्षुश्चतुष्टये। आश्रमोऽस्त्री' इति चामरः। सर्वकार्यनिर्वाहकायेत्यर्थः। तस्मै रघवे विचक्षणो विद्वान् वर्णी ब्रह्मचारी। 'वर्णिनो ब्रह्मचारिणः' इत्यमरः। 'वर्णाद् ब्रह्मचारिणि' इतीनिप्रत्ययः। स कौत्सः प्रस्तुतं प्रकृतमाचचक्षे॥

अ०—ततः, यथावद्, विहिताध्वराय, स्मयावेशविवर्जिताय, वर्णाश्रमाणां, गुरवे, तस्मै, विचक्षणः, वर्णी, सः, प्रस्तुतम्, आचचक्षे। वा०—विचक्षणेन वर्णिना तेन प्रस्तुत आचचक्षे।

सुधा—तत = तदनन्तरं' यथावद् = यथाविधि, शास्त्रानुरूपमित्यर्थः। विहिताध्वराय=सम्पादितयागाय, श्रुतिस्मृत्यनुमोदितकार्यकर्त्रे सदाचारसम्पन्नायेत्यर्थः। स्मयावेशविवर्जिताय = गर्वप्रवेशरहिताय, निरभिमानायेत्यर्थः। वर्णाश्रमाणां = ब्राह्मणादिब्रह्मचर्यादीनां, गुरवे=धर्मोपदेशकाय, नियन्त्र इत्यर्थः। तस्मै=पूर्वोक्ताय' रघव इत्यर्थः।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

विचक्षणः = पण्डितः, वर्णी = ब्रह्मचारी, सः = पूर्वोक्तः, कौत्स इत्यर्थः । प्रस्तुतम् = उपक्रान्तं, गुरुदक्षिणाया वस्तुनः स्वरूपं मानं चेति भावः । आचचक्षे = आख्यातवान् ।

स०—विहितोऽध्वरो येन स विहिताध्वरः तस्मै तथोक्ताय । स्मयस्यावेशः स्मयावेशः तेन विवर्जितः स्मयावेशविवर्जितः तस्मै तथोक्ताय । वर्णाश्चाश्रमाश्चेति वर्णाश्रमाः तेषां वर्णाश्रमाणाम् ।

को०—'प्रक्रमते प्रारभते प्रस्तौत्युद्घातयत्यपि । प्रस्तुते चोपक्रमते दशोपक्रमतेऽप्यमी । अभ्यादत्त प्रक्रमत उपजानात्युपक्रमे' इत्यख्यातचन्द्रिका ॥

ता०—तदनन्तरं ब्रह्मचारी कौत्स ऋषिः शास्त्रोक्तरीत्या यज्ञादिकारिणं निरभिमानं सकलवर्णाश्रमनियामकं तं रघुं प्रति प्रकृतविषयमुवाच ॥

इन्दुः—उसके बाद शास्त्रानुकूल यज्ञ को जिसने किया है, और जो गर्व के आवेश से शून्य हैं अर्थात् अहङ्कार शून्य हैं, ऐसे चारो (ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र) वर्णों और चारो (ब्रह्मचर्य—गार्हस्थ्य-वानप्रस्थ-संन्यास) आश्रमों को अपने २ मार्ग पर चलाने वाले रघु महाराज से पण्डित और ब्रह्मचारी वे कौत्स ऋषि प्रकृत विषय को कहने लगे ॥ १९ ॥

अथ प्रकृतविषयमाचक्षाणः कौत्स आदौ गुरुदक्षिणायै साग्रहं कृतं गुरौ निवेदयमेव रघुं प्रत्याह—

समाप्तविद्येन मया महर्षिर्विज्ञापितोऽभूद् गुरुदक्षिणायै ।
स मे चिरायास्खलितोपचारां तां भक्तिमेवागणयत्पुरस्तात् ॥२०॥

सञ्जी०—समाप्तेति । समाप्तविद्येन मया महर्षिर्गुरुदक्षिणायै गुरुदक्षिणास्वीकारार्थं विज्ञापितोऽभूत् । स च गुरुश्चिरायास्खलितोपचारां तां दुष्करां मे भक्तिमेव पुरस्तात्प्रथममगणयत्संख्यातवान् । भक्त्यैव सन्तुष्टः किं दक्षिणयेत्युक्तवानित्यर्थः । अथवा भक्तिमेव तां दक्षिणामगणयदिति योज्यम् ॥

अ०—समाप्तविद्येन, मया, महर्षिः, गुरुदक्षिणायै, विज्ञपितः, अभूत् । सः, 'च' चिराय, अस्खलितोपचारां, तां, मे, भक्तिम्, एव, पुरस्तात्, अगणयत् । वा०—समाप्तविद्योऽहं महर्षिं विज्ञापितवानभूवम् (समाप्तविद्येन मया गुरुदक्षिणायै विज्ञापितेन महर्षिणाऽभावि) तेन 'च' अस्खलितोपचारा सा मे भक्तिरेवागण्यत ॥

सुधा०—समाप्तविद्येन = लब्धचतुर्दशविद्येन, मया = कौत्सेन, महर्षिः = अतिसत्यवचाः, वरतन्तुरित्यर्थः । गुरुदक्षिणायै = गुरुदक्षिणाङ्गीकारार्थः, विज्ञापितः = निवेदितः- अभूत् = आसीत् , सः—पूर्वोक्तः, मद्गुरुरित्यर्थः । चेति शेषः । चिराय = चिरेण, बहुसमयमित्यर्थः । अस्खलितोपचारां = निरन्तरकृतपादसंवाहनप्रभृतिरूपोपचारां, तां = पूर्वोक्तां, दुःसाध्यामित्यर्थः । मे = मम, भक्तिं = सेवाम्, एव = अवधारणेऽर्थे, पुरस्तात् = अग्रतः, अगणयत् = परिगणयति स्म, तव निन्योनमकस्यैव प्रसन्नोऽस्मि, किं दक्षिणयेत्यवोचदित्यर्थः ॥

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

स०—समाश्रा क्रिया येन स समाश्रक्रियः तेन तथोक्तेन। न स्खलित इत्यस्खलितः अस्खलित उपचारो यस्याः साऽस्खलितोपचारा तां तथोक्ताम् ॥

को०—'वृत्तिर्णो वर्तिणोदुभूतसरलश्रदम्पर्तिषु। भवामे त्रिषु यज्ञादिविधिदाने स्थिति विपर्यासि'ति मे०। 'स्खलितं छलिते भ्रेषे' इति हैमः। 'पुरस्तात्प्रथमेऽग्रतः' इत्यने० ॥

ता०—गुरोः सकाशाच्चतुरो वेदान् षडङ्गानि मीमांसां न्यायं पुराणं धर्मशास्त्रं च सम्यगधीत्य यदा गुरुदक्षिणाऽर्थं मया स प्रार्थितस्तदा तेन निरन्तरं मत्कृता पादसंवाहनादिरूपा दुष्करा सेवैव दक्षिणाऽमानि ॥

इन्दुः—१४ विद्याओं को प्राप्त किये हुये हमने गुरुदक्षिणा के लिये महर्षि वरतन्तु से जब प्रार्थना की, तब उन्होंने बहुत दिन तक नियम-पूर्वक मुझसे की हुई पैर दबाना आदि सेवा ही को मुख्य दक्षिणा समझा अर्थात् यह कहा कि—मैं तेरी सेवा से ही प्रसन्न हूं, मुझे दक्षिणा से क्या काम है ? ॥ २० ॥

अथ दक्षिणार्थं पुनः पुनः प्रार्थनया रुष्टो गुरुश्चतुर्दशकोटिगितं धनं दक्षिणारूपमानेतुं मामादिष्टवानिति कथयन् कौत्स आह—

निर्बन्धसञ्जातरुषार्थकार्श्यमचिन्तयित्वा गुरुणाऽहमुक्तः।
वित्तस्य विद्यापरिसंख्यया मे कोटीश्चतस्रो दश चाहरेति ॥२१॥

सञ्जी०—निर्बन्धेति। निर्बन्धेन प्रार्थनाऽतिशयेन सञ्जातरुषा सञ्जातक्रोधेन गुरुणा। अर्थकार्श्यं दारिद्र्यमचिन्तयित्वाऽविचार्याहम्। वित्तस्य धनस्य चतस्रो दश च कोटीश्चतुर्दशकोटी मे मह्यमाहरानयेति विद्यापरिसंख्या विद्यापरिसंख्यानुसारेणैवोक्तः। अत्र मनुः—'अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः। पुराणं धर्मशास्त्रं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश' ॥ इति ॥

अ०—निर्बन्धसञ्जातरुषा, गुरुणा, अर्थकार्श्यं, अचिन्तयित्वा, अहं, वित्तस्य, चतस्रः, दश च, कोटीः, मे, आहर, इति, विद्यापरिसंख्यया, उक्तः ॥ वा०—निर्बन्धसञ्जातरुड् गुरुर्मां चत्वारो दश च कोट्यो मे आह्रियन्तामित्युक्तवान् ॥

सुधा—निर्बन्धसञ्जातरुषा=अतिप्रार्थनाजन्यकोपशालिना, गुरुणा=उपाध्यायेन, वरतन्तुमहर्षिणेत्यर्थः। अर्थकार्श्यं=धनतनिमानं, निर्धनत्वमित्यर्थः। अचिन्तयित्वा=अनालोच्य, अहं=कौत्सः, वित्तस्य=द्रव्यस्य, चतस्रः=चतुष्टयं, दश=दशकं, च—समुच्चयेऽर्थे, चतुर्दशेत्यर्थः। कोटीः=लक्षशतकानि, मे=मह्यम्, आहर=आनय, इति=एवं, विद्यापरिसंख्यया=चतुर्दशविद्यापरिगणनानुसारेण, एवेति शेषः। उक्तः=कथितः, आदिष्ट इत्यर्थः ॥

स०—निर्बन्धेन सञ्जाता निर्बन्धसञ्जाता सा रुड् यस्य स निर्बन्धसञ्जातरुट् तेन तथोक्तेन। कृशस्य भावः कार्श्यम् अर्थस्य कार्श्यमित्यर्थकार्श्यं तदर्थकार्श्यं तथोक्तम्।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection.

को०—'स्तोकाल्पक्षुल्लकाः सूक्ष्मं श्लक्ष्णं दभ्रं कृशं तनु। स्त्रियां मात्रा त्रुटिः पुंसि

लवलेशकणाणवः' इत्य० । 'पितं ...... निष्ठिते विचारिते' इति मे० ॥

ता०—मुहुर्मुहुर्दक्षिणाग्रहणार्थं मया प्रार्थ्यमानो गुरुः सञ्जातरोषतया मदीयां निर्धनतामनपेक्ष्यैव यावत्यो विद्याः पठितास्तावत्संख्याऽनुसारतश्चतुर्दशकोटिमितं सुवर्णमानयेति मामादिष्टवान् ॥

इन्दुः—बार बार दक्षिणा ग्रहण करने के लिये प्रार्थना करने से जिसे क्रोध उत्पन्न हो गया था, ऐसे गुरुजी ने मेरी दरिद्रता की ओर ध्यान न देकर मैंने उनसे जितनी विद्या पढ़ी थी, उतनी विद्या की संख्या के अनुसार '१४ करोड़ द्रव्य मेरे लिये लाओ' ऐसा मुझ से कहा ॥ २१ ॥

सम्प्रति भवन्तं निःस्वं मत्वा निजाभीप्सितद्रव्यप्राप्तिमसम्भाव्य चान्यत्र जिगमिषुरस्मीति बोधयन् कौत्सो रघुम्प्रत्याह—

सोऽहं सपर्याविधिभाजनेन मत्वा भवन्तं प्रभुशब्दशेषम् ।
अभ्युत्सहे सम्प्रति नोपरोद्धुमल्पेतरत्वाच्छ्रुतनिष्क्रयस्य ॥ २२ ॥

सञ्जी०—सोऽहमिति । सोऽहं सपर्याविधिभाजनेनार्घ्यपात्रेण भवन्तं प्रभुशब्द एव शेषो यस्य तं मत्वा । निःस्वं निश्चित्येत्यर्थः । श्रुतनिष्क्रयस्य विद्यामूल्यस्याल्पेतरत्वादतिमहत्त्वात्सम्प्रत्युपरोद्धुं नाभ्युत्सहे ॥

अ०—सः, अहं, सपर्याविधिभाजनेन, भवन्तं, प्रभुशब्दशेषं, मत्वा, श्रुतनिष्क्रयस्य, अल्पेतरत्वात्, सम्प्रति, उपरोद्धुं, न अभ्युत्सहे ॥ वा०—तेन मया भवान् प्रभुशब्दशेषं उपरोद्धुं नाभ्युत्सह्यते ॥

सुधा—सः = पूर्वोक्तः, दक्षिणाऽऽनयनार्थं गुरुणाऽऽदिष्ट इत्यर्थः । अहं = कौत्सः, सपर्याविधिभाजनेन = परिचर्याविधानपात्रेण, मृन्मयार्घ्यपात्रेणेत्यर्थः । भवन्तं = त्वां, रघुमित्यर्थः । प्रभुशब्दशेषम् = ईश्वरेत्यक्षरमात्रावशिष्टं, निःस्वमित्यर्थः । मत्वा = ज्ञात्वा, निश्चित्येत्यर्थः । श्रुतनिष्क्रयस्य = शास्त्रमूल्यस्य, गुरुदक्षिणाया इति भावः । अल्पेतरत्वाद् = स्तोकान्यत्वाद्, महीयस्त्वादित्यर्थः । सम्प्रति = इदानीम्, उपरोद्धुम् = अनुरोद्धुं, बाध्यं कर्तुमित्यर्थः । न = नहि, अभ्युत्सहे = उत्साहं करोमि ॥

स०—सपर्याया विधिः सपर्याविधिः तस्य भाजनमिति सपर्याविधिभाजनं तेन तथोक्तेन । प्रभुरिति शब्दः प्रभुशब्दः स एव शेषो यस्य स प्रभुशब्दशेषः तं तथोक्तम् ।

को०—'भाण्डं पात्रामत्रं च भाजनमि'त्य० । 'विधिर्ब्रह्मविधानयोः । विधिवाक्ये च दैवे च प्रकारे कालकल्पयोः' इत्यने० । 'श्रुतं शास्त्रावधृतयोरि'त्य० ॥

ता०—सोऽहमिदानीं मृन्मयार्घ्यपात्रदर्शनादेव राजशब्दमात्रावशिष्टं भवन्तं निःस्वं मत्वा स्वकीयगुरुदक्षिणाऽर्थकं द्रव्यञ्चातिबहुलमालोच्य नाहमतः परं किमपि वक्तुं समुत्सहे, ततो गमनमेव वरम् ॥

इन्दुः—'गुरु की आज्ञा से मांगने के लिये मैं आया हुआ हूँ' पर मैं पूजन करने का पात्र अर्थात् मृन्मय अर्घ्यपात्र द्वारा आपको केवल 'प्रभु' पद शब्द जिसके पास

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

बच गया है, ऐसा समझकर अर्थात्-बिलकुल धन से रहित जानकर विद्या का मूल्य (गुरु-दक्षिणा) बहुत अधिक (१४ करोड़) होने से इस समय आप देवें इसके लिये बाध्य करने में मुझे उत्साह नहीं होता है। अर्थात् आपकी अवस्था देख कर मुझे कुछ कहने का साहस नहीं होता, अतः मेरा जाना ही उचित है ॥ २२ ॥

पूर्वोक्तं कौत्सवचः श्रुत्वा रघुः पुनस्तमुवाचेत्याह—

इत्थं द्विजेन द्विजराजकान्तिरावेदितो वेदविदां वरेण।
एनोनिवृत्तेन्द्रियवृत्तिरेनं जगाद भूयो जगदेकनाथः ॥ २३ ॥

सञ्जी०—इत्थमिति। द्विजराजकान्तिश्चन्द्रकान्तिः। 'द्विजराजः शशधरो नक्षत्रेशः क्षपाकरः' [तस्मात्सोमो राजा नो ब्राह्मणानाम्] इति श्रुतेः। द्विजराजकान्तित्वेनार्थावाप्तिवैराग्यं वारयति। एनसः पापान्निवृत्तेन्द्रियवृत्तिर्यस्य स जगदेकनाथो रघुर्वेदविदां वरेण श्रेष्ठेन द्विजेन कौत्सेनेत्थमावेदितो निवेदितः सन्। एनं कौत्सं भूयः पुनर्जगाद।

अ०—द्विजराजकान्तिः, एनोनिवृत्तेन्द्रियवृत्तिः जगदेकनाथः, वेदविदां, वरेण, द्विजेन, इत्थम्, आवेदितः, 'सन्' एनं, भूयः, जगाद। वा०—द्विजराजकान्तिनैनोनिवृत्तेन्द्रियवृत्तिना जगदेकनाथेनावेदितेन 'सता' एष भूयो जगदे।

सुधा०—द्विजराजकान्तिः = शशधरदीप्तिः, चन्द्रप्रभ इत्यर्थः। एनोनिवृत्तेन्द्रियवृत्तिः=पापपराङ्मुखहृषीकव्यापारः, जगदेकनाथः = भुवनमुख्येश्वरः, सार्वभौमः स रघुरित्यर्थः। वेदविदां = श्रुतिवेदिनां, ब्राह्मणानामित्यर्थः। वरेण=श्रेष्ठेन, द्विजेन = द्विजन्मना कौत्सेनेत्यर्थः। इत्थम्=अमुना प्रकारेण, आवेदितः=विज्ञापितः, सन्निति शेषः। एनं = पूर्वोक्तं, कौत्समित्यर्थः। भूयः=पुनः, जगाद=उवाच।

स०—द्विजानां राजेति द्विजराजः तस्य कान्तिरिव कान्तिर्यस्य स द्विजराजकान्तिः इन्द्रियाणां वृत्तिरितीन्द्रियवृत्तिः एनसो निवृत्तेत्येनोनिवृत्ता सा इन्द्रियवृत्तिर्यस्य स एनोनिवृत्तेन्द्रियवृत्तिः। एकश्चासौ नाथ एकनाथः जगतामेकनाथो जगदेकनाथः।

को०—'द्विजः स्यात् ब्रह्मणक्षत्रवैश्यदन्ताण्डजेषु ना।' 'वेदः श्रुतौ च वृत्ते च' इति च मे०। 'एनः पापापराधयोः' इति हैमः।

ता०—इत्थं पूर्वोक्तप्रकारेण वेदविदां प्रधानेन कौत्सेन विज्ञापितो जगदीश्वरो रघुः पुनस्तमुवाच ॥ २३ ॥

इन्दुः—चन्द्रमा की तरह कान्ति वाले, पापों से निवृत्त इन्द्रियवृत्ति वाले (जितेन्द्रिय) ये जगत् के एकमात्र प्रभु चक्रवर्ती रघु महाराज, वेद के जानने वालों श्रेष्ठ ब्राह्मण (कौत्स ऋषि) के द्वारा पूर्वोक्त प्रकार से निवेदन किये जाने पर कौत्स ऋषि से फिर बोले ॥ २३ ॥

अथ रघुः कौत्समन्यत्र गमनात्परावर्त्तयन्नाह—

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

गुर्वर्थमर्थी श्रुतपारदृश्वा रघोः सकाशादनवाप्यकामम्।

गतो वदान्यान्तरमित्ययं मे माभूत्परीवादनवावतारः ॥ २४ ॥

सञ्जी०—गुर्वर्थमिति । श्रुतस्य पारं दृष्टवान्छ्रुतपारदृश्वा । 'दृशेः क्वनिप्' इति क्वनिप् । गुर्वर्थं गुरुदक्षिणाऽर्थं यथा तथाऽर्थी याचकः । विशेषणद्वयेनाप्यस्याप्रत्याख्येयत्वमाह । रघोः सकाशात्कामं मनोरथमनवाप्याप्राप्य वदान्यान्तरं दात्रन्तरं गतः । 'स्युर्वदान्यस्थूललक्षयदानशौण्डा बहुप्रदे' इत्यमरः । इत्येवंरूपोऽयं परीवादस्य नवो नूतनः प्रथमोऽवतार आविर्भावो मे मा भून्माऽस्तु । रघोरिति स्वनामग्रहणं सम्भावितत्वद्योतनार्थम् । तथा च—(सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते) इति भावः ॥

अ०—श्रुतपारदृश्वा, गुर्वर्थम्, अर्थी, रघोः, सकाशात्, कामम्, अनवाप्य, वदान्यान्तरं, गतः, इति, अयं, परीवादनवावतारः, मे, मा, भूत् । वा०—श्रुतपारदृश्वनाऽर्थिना वदान्यान्तरं गतमित्यनेन मे परीवादनवावतारेण मा भावि ॥

सु०—श्रुतपारदृश्वा=शास्त्रपारगामी, गुर्वर्थम्=उपाध्यायार्थं, गुरुदक्षिणार्थमित्यर्थः । क्रियाविशेषणमिदम् । अर्थी=याचकः, रघोः=दिलीपसूनोः, सकाशात्=समीपात् , कामम्=अभिलाषं, मनोऽभिलषितमित्यर्थः । अनवाप्य=अनधिगम्य, वदान्यान्तरं-बहुप्रदान्तरं, गतः=यातः, इति=एवंरूपः, अयम्=एषः, परीवादनवावतारः=निन्दानवीनप्रादुर्भावः, मा भूत्=न भवतु ॥

स०—श्रुतस्य पारः श्रुतपारः तं दृष्टवानिति श्रुतपारदृश्वा, नवश्चासाववतारो नवावतारः, परिवादस्य नवावतारः तथोक्तः ।

को०—'अवर्णाक्षेपनिर्वादपरीवादापवादवत् । उपक्रोशो जुगुप्सा च कुत्सा निन्दा च गर्हणे' इति । 'नवीनो नूतनो नवः' इति चा० ।

ता०—सकलशास्त्रपारगामी कौत्सो गुरुदक्षिणार्थं याचकत्वेन रघुसमीपमागतोऽपि धनाभावतया विफलमनोरथो भूत्वा वदान्यान्तरं गत इति मे निन्दायाः प्रथमावतारो माभूत्, अतो भवद्गमनं नोचितमन्यत्र।

इन्दुः—शास्त्र के पारगामी, गुरु के लिये याचना करने वाले कौत्स ऋषि रघु के पास से मनोरथ पूर्ण न होने से दूसरे दाता के यहां गये, इस तरह का यह निन्दा का पहले पहल नया (अवतार) सोहरा न होवे ॥ २४ ॥

अथ रघुः 'दिनत्रयाभ्यन्तरमेव भवदपेक्षितं धनं प्राप्स्यामी'त्युक्त्वा कौत्सं निवासयामासेत्याह—

स त्वं प्रशस्ते महिते मदीये वसंश्चतुर्थोऽग्निरिवाग्न्यगारे ।
द्वित्राण्यहान्यर्हसि सोढुमर्हन् यावद्यते साधयितुं त्वदर्थम् ॥ २५ ॥

सञ्जी०—स इति । स त्वं महिते पूजिते प्रशस्ते प्रसिद्धे मदीयेऽग्न्यगारे त्रेताग्निशालायां चतुर्थोऽग्निरिव वसन्द्वित्राणि द्वे त्रीणि वाऽहानि दिनानि । 'संख्ययाऽव्ययासन्नादूराधिकसंख्याः संख्येये' इति बहुव्रीहिः । 'बहुव्रीहौ संख्येये डजबहुगणात्'

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

इति डच्प्रत्ययः समासान्तः। सोढुमर्हसि। हे अर्हन्! मान्य! त्वदर्थं तत्र प्रयोजनं साधयितुं यावद्यते यतिष्ये। 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्' इति भविष्यदर्थे लट्।

अ०—सः, त्वं, महिते, प्रशस्ते, मदीये, अग्न्यगारे, चतुर्थः, अग्निः, इव, वसन्, द्वित्राणि, अहानि, सोढुम्, अर्हसि, अर्हन्! त्वदर्थं, साधयितुं, यावद्, यते॥ वा०—तेन त्वया चतुर्थेनाग्निनेव वसताऽर्ह्यते, 'मया' यत्यते॥

सु०—सः=पूर्वोक्तः, त्वं=भवान्, कौत्स इत्यर्थः। महिते=पूजिते, प्रशस्ते=प्रख्याते, मदीये=मामके, अग्न्यगारे=त्रेतावह्निसदने, अग्निहोत्रशालायामित्यर्थः। चतुर्थः=चतुःसंख्यापूरकः, अग्नि=वह्निः, इव=यथा, वसन्=तिष्ठन्, निवासं कुर्वन्नित्यर्थः। द्वित्राणि=द्वे त्रीणि वा, अहानि=वासराणि, सोढुं=क्षन्तुं, यापयितुमित्यर्थः। अर्हसि=योग्यो भवसि। अर्हन्!=हे सम्मान्य!, त्वदर्थं=भवत्प्रयोजनं, त्वन्मनोऽभीष्टमित्यर्थः। साधयितुं=पूरयितुं, यावद्=अवधारणेऽर्थे, यते=प्रयत्नं करोमि, तत्परो भविष्यामीत्यर्थः॥

को०—'गृहं गेहोदवसितं वेश्म सद्म निकेतनम्। निशान्तपस्त्यसदनं भवनागारमन्दिरम्'॥ इत्य०। 'अर्हतौ जिनसम्मान्यौ' इति या०॥

ता०—अतस्त्वमितोऽन्यत्र कुत्रचिन्न गत्वाऽग्नित्रयशोभितायां मदीयाग्निहोत्रशालायां चतुर्थोऽग्निरिव निवसन् दिनद्वयं दिनत्रयं वा तावत्प्रतीक्षस्व, यावदहं त्वद्गुरुदक्षिणाऽर्थे द्रव्यानयनाय कमप्युपायं करोमि॥

इन्दुः—अन्यत्र कहीं न जाकर मेरे कहने से रुके हुये आप सबों से पूजित अत एव प्रसिद्ध मेरी अग्निशाला में (दक्षिणाग्नि-गार्हपत्य-आहवनीय=इन तीन अग्नि के साथ) चौथे अग्नि की भांति रहते हुये २–३ दिन और ठहरने से विलम्ब होने को क्षमा करने में समर्थ हों। जब तक कि हे माननीय! आप का प्रयोजन पूरा करने के लिये मैं यत्न करूं!॥ २५॥

अथ रघुः कौत्सं निवास्य कुबेरात् तदभीष्टधनमाहर्तुमियेषेत्याह—

तथेति तस्यावितथं प्रतीतः प्रत्यग्रहीत्सङ्गरमग्रजन्मा।
गामात्तसारां रघुरप्यवेक्ष्य निष्क्रष्टुमर्थं चकमे कुबेरात्॥ २६॥

सञ्जी०—तथेतीति। अग्रजन्मा ब्राह्मणः प्रतीतः प्रीतः संस्तस्य रघोरवितथममोघं सङ्गरं प्रतिज्ञाम्। 'अथ प्रतिज्ञाऽऽजिसंविदापत्सु सङ्गरः' इत्यमरः। 'तां गिरम्' इति केचित्पठन्ति। तथेति प्रत्यग्रहीत्। रघुरपि गां भूमिमात्तसारां गृहीतधनामवेक्ष्य कुबेरार्थं निष्क्रष्टुमाहर्तुं चकम इयेष।

अ०—अग्रजन्मा, प्रतीतः, 'सन्'; तस्य, अवितथं, सङ्गरं, तथा, इति, प्रत्यग्रहीत्, रघुः, अपि, गाम्, आत्तसाराम्, अवेक्ष्य, कुबेराद्, अर्थं, निष्क्रष्टुं, चकमे॥ वा०—अग्रजन्मना प्रतीतेन 'सता' तस्यावितथः संगरः प्रत्यग्राहि। रघुणाऽप्यर्थश्चकमे।

सुधा—अग्रजन्मा=द्विजश्रेष्ठः ब्राह्मणः कौत्स इत्यर्थः। प्रतीतः=हृष्टः, प्रसन्न

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection.

इत्यर्थः । सन्निति शेषः । तस्य = पूर्वोक्तस्य, रघोरित्यर्थः । अवितथम् = अनिष्फलं, सत्यमित्यर्थः । सङ्गरं = प्रतिज्ञां, तथा = तेन प्रकारेण, यथा भवतोक्तमत्र द्वित्र्याण्यहानि वस्तुमिति, तत्तथैवास्तु, अर्थाद् भवदाज्ञया स्थास्यामीत्यर्थः । इति = एवम्. उक्त्वेति शेषः । प्रत्यग्रहीत्=प्रतिगृहीतवान् , रघोराज्ञाऽनुसारेण निवासं कृतवानित्यर्थः । रघुः = दिलीपसूनुः, अपि समुच्चयेऽर्थे, गां = पृथ्वीम्, आत्तसाराम्=आहृतधनाम् , अवेक्ष्य = दृष्ट्वा, कुबेराद् = त्र्यम्बकसखात्, धनाधिपसकाशादित्यर्थः । अर्थ=धन, चतुर्दशकोटिमितमित्यर्थः । निष्क्रष्टुं = ग्रहीतुम् , आनेतुमित्यर्थः ।' चक्रमे = ऐच्छत् ॥

को०—'अग्रजन्मा द्विजश्रेष्ठ मातरि ब्रह्मणि स्मृतः' इति विश्वः । 'प्रज्ञातज्ञातहृष्टेषु प्रतीतः सादरे त्रिषु' इति रभसः ॥

ता०—प्रसन्नमनाः कौत्सो रघोश्चतुर्दशकोटिमितधनप्रदानसम्बन्धिनीं सत्यप्रतिज्ञां श्रुत्वा तथाऽस्त्वित्युक्त्वा द्वित्राण्यहानि स्थातुं तत्प्रार्थनां स्वीकृतवान् , रघुरपि गृहीतराजग्राह्यकरतया पृथ्वीं धनप्राप्त्ययोग्यां दृष्ट्वा कुबेराद्धनमाहर्तुमियेष ।

इन्दुः—द्विजों में श्रेष्ठ कौत्स ऋषि प्रसन्न होते हुये उन रघु महाराज की सत्य प्रतिज्ञा को 'जैसा आप कहते हैं वैसा ही होगा अर्थात् मैं २-३ दिन तक ठहरूंगा, ऐसा कह कर स्वीकार किया। अर्थात् प्रतिज्ञा सच मानकर ठहर गये और रघु महाराज ने पृथ्वी को 'जिसका धन कररूप से ले लिया गया है' ऐसा समझकर कुबेर से धन लेने की इच्छा की ॥ २६ ॥

ननु कुबेरो लोकपालोऽलकापुरीवासी, अतस्तत्र रघोर्गमनमशक्यमित्यत आह—

वसिष्ठमन्त्रोक्षणजात्प्रभावादुदन्वदाकाशमहीधरेषु ।
मरुत्सखस्येव बलाहकस्य गतिर्विजघ्ने नहि तद्रथस्य ॥ २७ ॥

सञ्जी०—वसिष्ठमन्त्रेति । वसिष्ठस्य यन्मन्त्रेणोक्षणमभिमन्त्र्य प्रोक्षणं तज्जात्प्रभावात्सामर्थ्याद्धेतोः । उदन्वदाकाशमहीधरेषूदन्वत्युदधावाकाशे महीधरेषु वा । मरुत्सखस्य मरुतः सखेति तत्पुरुषो बहुव्रीहौ समासान्ताभावात् । ततो वायुसहायस्येति लभ्यते । वारीणां वाहको बलाहकः (पृषोदरादित्वात्साधुः) तस्येव मेघस्येव । तद्रथस्य गतिः सञ्चारो न विजघ्ने न विहता हि ॥

अ०—वसिष्ठमन्त्रोक्षणजात् , प्रभावाद्, उदन्वदाकाशमहीधरेषु, मरुत्सखस्य बलाहकस्य, इव, तद्रथस्य, गतिः, न, विजघ्ने, हि ॥ वा० गति नहि 'केऽपि' विजघ्नुः ।

सुधा०—वसिष्ठमन्त्रोक्षणजाद्=वसिष्ठमहर्षिमन्त्रप्रोक्षणोत्पन्नात् । प्रभावात्=तेजसः सामर्थ्यादित्यर्थः । उदन्वदाकाशमहीधरेषु=समुद्रगगनपर्वतेषु, मरुत्सखस्य = पवनसहायस्य, बलाहकस्य=जलदस्य, इव=यथा, तद्रथस्य=पूर्वोक्तरघुस्यन्दनस्य, गतिः= गमनं, सञ्चरणमित्यर्थः । न = हि, विजघ्ने=निरुरुधे, यथा मेघस्य सर्वत्राप्रतिहता गतिरस्ति तथैवास्य रघोः स्यन्दनस्यापि गतिरासीदिति भावः ॥

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

स०—वसिष्ठस्य मन्त्रो वसिष्ठमन्त्रः तेनोक्षणं वसिष्ठमन्त्रोक्षणं तस्माज्जातो वसिष्ठमन्त्रोक्षणजः तस्मात्तथोक्तात्। आसमन्तात् काशन्त सूर्यादयो यत्रेत्याकाशः मह्या धरा महीधराः उदन्वांश्चाकाशश्च महीधराश्चेत्युदन्वदाकाशमहीधराः तेषु तथोक्तेषु।

को०—'वियद्विष्णुपदं वा तु पुंस्याकाशविहायसी' इत्य०। 'रथः पुमानवयवे स्यन्दने वेतसेऽपि च' इति मे०॥

ता०—यथा मेघस्य वायुसाहाय्यात् सर्वत्रैवाप्रतिहता गतिर्भवति, तथैव वसिष्ठमहर्षेर्मन्त्रप्रोक्षणजन्यसामर्थ्याद्रघोरपि रथस्य समुद्रे गगने पर्वतेष्वपि सर्वत्र स्वेच्छापूर्वकमप्रतिहतः सञ्चार आसीदतः कुबेरं प्रत्यभियानस्य तस्माद्धनाहरणस्य चाभिलाषः समुचित एव॥

इन्दुः—वसिष्ठ महर्षि के मन्त्र से अभिमन्त्रित जल छिड़कने से उत्पन्न सामर्थ्य से समुद्र, आकाश और पर्वतों में वायु की सहायता से जैसे मेघ की गति नहीं रुकती है, इसी भांति उन रघु महाराज के रथ की गति कहीं नहीं रुकती थी अर्थात् सब जगह वे जा सकते थे, अतः कुबेर के पास जाकर धन ले आने की इच्छा करना ठीक ही है॥ २७॥

अथ कुबेरं जिगीषू रघुः प्रातर्गमनार्थं रात्रौ रथमधिशयितवानित्याह—

अथाधिशिश्ये प्रयतः प्रदोषे रथं रघुः कल्पितशस्त्रगर्भम्।
सामन्तसंभावनयैव धीरा कैलासनाथं तरसा जिगीषुः॥ २८॥

सञ्जी०—अथेति। अथ प्रदोषे रजनीमुखे तत्काले यानाधिरोहणविधानात्। प्रयतो धीरो रघुः। समन्ताद्भवः सामन्तः। राजमात्रमिति सम्भावनयैव कैलासनाथं कुबेरं तरसा बलेन जिगीषुर्जेतुमिच्छुः सन्। कल्पितं सज्जितं शस्त्रं गर्भे यस्य तं रथमधिशिश्ये। रथे शयितवानित्यर्थः। 'अधिशीङ्स्थाऽऽसां कर्म' इति कर्मत्वम्॥

अ०—अथ प्रदोषे, प्रयतः, रघुः, सामन्तसम्भावनया, एव, कैलासनाथं, तरसा, जिगीषुः, 'सन्' कल्पितशस्त्रगर्भं, रथम्, अधिशिश्ये॥ वा०—प्रयतेन रघुणा जिगीषुणा 'सता' अधिशिश्ये॥

सुधा—अथ=अनन्तरं, कुबेराद्धनाहरणेच्छाकरणानन्तरमित्यर्थः। प्रदोषे=रजनीमुखे, तत्समये शुभमुहूर्त्तसत्त्वादिति भावः। प्रयतः=धीरः, रघुः=दिलीपसूनुः, सामन्तसम्भावनया=स्वदेशसमीपवर्त्तिराजकल्पनया, न तु लोकपाल इति कल्पनयेति भावः। एव=अवधारणेऽर्थे, कैलासनाथं=रजताद्रिपतिं, कुबेरमित्यर्थः। तरसा=बलेन, पराक्रमेणेत्यर्थः। जिगीषुः=विजयेच्छुकः, सन्निति शेषः। कल्पितशस्त्रगर्भं=सज्जितायुधमध्यं, युद्धोपयोगिविविधायुधपूर्णमित्यर्थः। रथं=स्यन्दनं, स्यन्दनमध्य इत्यर्थः। अधिशिश्ये=सुष्वाप॥

स०—कल्पितं च तच्छस्त्रं कल्पितशस्त्रं तद् गर्भे यस्य स कल्पितशस्त्रगर्भः तं तथोक्तम्। समन्ताद् भवः सामन्तः तस्य सम्भावना सामन्तसम्भावना तया॥

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

को०—'प्रदोषो रजनीमुखमि'ति । 'आयुधन्तु प्रहरणं शस्त्रमस्त्रमि'ति चा० ।

ता०—कुबेराद्धनाहरणेच्छाकरणानन्तरं रघुस्तं सामान्यं राजानमिव मत्वा जिगीषु सायङ्काले शुभमुहूर्त्तसत्वाद् युद्धोपयोगिविविधायुधपूर्णे रथे शयनं कृतवान् ॥

इन्दुः—इसके (कुबेर से धन प्राप्त करने की इच्छा होने के) बाद सायङ्काल में (उस समय रथ पर चढ़ने का मुहूर्त्त होने से) धैर्यशाली (किसी से नहीं डरने वाले) रघु महाराज ने 'केवल यक्षों के राजा हैं न कि लोकपाल' इस सम्भावना से ही कैलास पर्वत के स्वामी कुबेर को बल से जीतने की इच्छा करते हुये जिसके मध्यभाग में सब शस्त्र रखे हुये हैं, ऐसे रथ में शयन किया ॥ २८ ॥

अथ रघुं युद्धार्थमाजिगमिषुं वीक्ष्य कुबेरो रात्रावेव तदीयकोषागारे सुवर्णवृष्टिं कृतवानित्याह—

प्रातः प्रयाणाभिमुखाय तस्मै सविस्मयः कोशगृहे नियुक्ताः ।
हिरण्मयीं कोशगृहस्य मध्ये वृष्टिं शशंसुः पतितां नभस्तः ॥२९॥

सञ्जी०—प्रातरिति । प्रातः प्रयाणाभिमुखाय तस्मै रघवे कोषगृहे नियुक्ता अधिकृत भाण्डागारिकाः सविस्मयाः सन्तः कोशगृहस्य मध्ये नभस्तो नभसः (पञ्चम्यास्तसिल्प्रत्ययः) । पमितां हिरण्मयीं सुवर्णमयीम् । दाण्डिनायन०' इत्यादिना निपातनात्साधुः । वृष्टिं शशंसुः कथयामासुः ॥

ज०—प्रातः, प्रयाणाभिमुखाय, तस्मै, कोशगृहे, नियुक्ताः, 'जनाः' सविस्मयाः, 'सन्तः' कोशगृहस्य, मध्ये, नभस्तः, पतितां, हिरण्मयीं, वृष्टिं, शशंसुः ॥ वा०-प्रातः प्रयाणाभिमुखाय तस्मै कोशगृहे नियुक्तैः 'जनैः' सविस्मयैः 'सद्भिः' कोशगृहस्य मध्ये नभस्तः पतिया हिरण्मयी वृष्टिः शशंसे ॥

सुधा—प्रातः = प्रभाते, प्रयाणाभिमुखाय=गमनोद्यताय, तस्मै=पूर्वोक्ताय, रघव इत्यर्थः । कोशगृहे=अर्थौघभवने, भाण्डागार इत्यर्थः । नियुक्ताः = स्थापिताः, रक्षकत्वेन रघुणा निदिष्टाः पुरुषा इत्यर्थः । सविस्मयाः = साश्चर्याः, सन्त इति शेषः । कोशगृहस्य=अर्थौघभवनस्य, मध्ये=गर्भे, नभस्तः=आकाशतः, पतितां=निर्गलितां, हिरण्मयीं=स्वर्णवतीं, वृष्टिं=वर्षणं, शशंसुः=आख्यातवन्तः ॥

स०—प्रयाणस्याभिमुखः प्रयाणाभिमुखः तस्मै तथोक्ताय ।

को०—'प्रगे प्रातः प्रभाते' । 'कोषोऽस्त्री कुड्मले खड्गपिधानेऽर्थौघदिव्यो'रित्यमरः ॥

ता०—प्रातःकाले गमनोद्यताय रघवे भाण्डागारमध्ये रात्रौ नभसः पतितां सुवर्णमयीं वृष्टिं विलोक्यातिसाश्चर्याः सन्तस्तत्र नियुक्ताः पुरुषा आगत्य तां निवेदयामासुः ॥

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

इन्दुः—प्रातःकाल में यात्रा करने के लिये उद्यत उन रघु महाराज से खजाने पर नियुक्त किये हुये लोगों ने आश्चर्ययुक्त होते हुये खजाने के गृह के अन्दर आकाश से

गिरी हुई सुवर्ण की वृष्टि को कहा ॥ २९ ॥

अथ यावती सुवर्णवृष्टिरभूत्तावतीं सर्वामेव रघुः कौत्साय ददावित्याह—

तं भूपतिर्भासुरहेमराशिं लब्धं कुबेरादभियास्यमानात् ।
दिदेश कौत्साय समस्तमेव पादं सुमेरोरिव वज्रभिन्नम् ॥ ३० ॥

सञ्जी०—तमिति । भूपती रघुः । अभियास्यमानादभिगमिष्यमाणात्कुबेराल्लब्धम् । वज्रेण कुलिशेन भिन्नं सुमेरोः पादं प्रत्यन्तपर्वतमिव स्थितम् । 'पादाः प्रत्यन्तपर्वताः' इत्यमरः । 'श्रृङ्गम्' इति क्वचित्पाठः । तं भासुरं भास्वरम् । 'भञ्जभासमिदो घुरच्' इति घुरच् । हेमराशिं समस्तं कृत्स्नमेव कौत्साय दिदेश ददौ न तु चतुर्दशकोटिमात्रमित्येवकारार्थः ॥

अ०—भूपतिः, अभियास्यमानात्, कुबेराद्, लब्धं, वज्रभिन्नं सुमेरोः, पादम्, इव, 'स्थितम्' तं भासुरहेमराशिं, समस्तम्, एव, कौत्साय, दिदेश ॥ वा०—भूपतिना लब्धो वज्रभिन्नः सुमेरोः पादः इव स भासुरहेमराशिः समस्तो दिदिशे ॥

सुधा—भूपतिः = महीश्वरः, रघुरित्यर्थः । अभियास्यमानाद् = अभ्येष्यमाणात् कुबेरात् = गुह्यकेश्वराद्, धनाधिपसकाशादित्यर्थः । लब्धं = प्राप्तं, वज्रभिन्नं=पविविदारितं, वज्रेण च्छिन्नमित्यर्थः । सुमेरोः = हेमाद्रेः, पादं=प्रत्यन्तपर्वतम्, इव = यथा स्थितमिति शेषः । तं = पूर्वोक्तं, भासुरहेमराशिं = प्रकाशशालिस्वर्णपुञ्जं, समस्तं = निखिलम्, एव = अवधारणेऽर्थे, कौत्साय = वरतन्तुशिष्याय, दिदेश दत्तवान् ॥

स०—भासुराणि च तानि हेमानि भासुरहेमानि तेषां राशिर्भासुरहेमराशिः तं तथोक्तम् । अभियास्यत इत्यभियास्यमानः तस्मात्तथोक्ताव् ॥

को०—'द्वौ राशी पुञ्जमेषाद्यौ' इति । 'अथ समं सर्वम् । विश्वमशेषं कृत्स्नं समस्तनिखिलाखिलानि निःशेषम्' इति । मेरुः सुमेरुर्हेमाद्री रत्नसानुः सुरालयः' इति चा० ॥

ता०—कुबेरो युद्धार्थमाजिगमिषुं रघुं ज्ञात्वा तद्भयाद् यावन्तं सुवर्णराशिं वृष्टिद्वारा ददौ, तावन्तं समस्तमेव दानशौण्डो रघुर्वज्रभिन्नं सुमेरोर्देदीप्यमानखण्डमिव स्थितं कौत्साय दत्तवान् ॥

इन्दुः—महाराज रघु ने युद्ध के लिये चढ़ाई किये जाने वाले कुबेर से पाये हुये वज्र से कट कर, अलग हुये सुमेरुपर्वत के बिलकुल पास की छोटी पहाड़ी की भांति स्थित, उस चमकते हुए, सम्पूर्ण स्वर्ण-राशि को कौत्स के लिये दे दिया ॥ ३० ॥

अथ कौत्सः सर्वस्वर्णराशिं दित्सो रघोः सकाशाच्चतुर्दशकोटितो नाधिकं ग्रहीतुमियेषेत्याह—

जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ द्वावप्यभूतामभिनन्द्यसत्त्वौ ।
गुरुप्रदेयाधिकनिःस्पृहोऽर्थी नृपोऽर्थिकामादधिकप्रदश्च ॥ ३१ ॥

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection.

सञ्जी०—जनस्येति । तावर्थिदातारौ द्वावपि साकेतनिवासिनोऽयोध्यावासिनः

'साकेतः स्यादयोध्यायां कोसला नन्दिनी च सा' इत्यादयः। जनस्याभिनन्द्यसत्त्वौ स्तुत्यव्यवसायावभूताम् । 'द्रव्यासु व्यवसायेषु सत्त्वमस्त्री तु जन्तुषु' इत्यमरः । कौ द्वौ ? गुरुप्रदेयादधिकेऽतिरिक्तद्रव्ये निःस्पृहोऽर्थी । अर्थिकामादर्थिमनोरथादधिकं प्रददातीति तथोक्तः । 'प्रे दाज्ञः' इति कप्रत्ययः । नृपश्च ॥

अ०—तौ, द्वौ, अपि, साकेतनिवासिनः, जनस्य, अभिनन्द्यसत्त्वौ, अभूताम्, कौ, द्वौ' ? गुरुप्रदेयाधिकनिःस्पृहः, अर्थी, अर्थिकामाद्, अधिकप्रदः, नृपः, च ॥ वा०— ताभ्यां द्वाभ्यामभिनन्द्यसत्त्वाभ्यामभावि, गुरुप्रदेयाधिकानिःस्पृहेनार्थिनाधिकप्रदेन नृपेण चाभावि ॥

सुधा—तौ = पूर्वोक्तौ, अर्थिदातारावित्यर्थः । द्वौ=द्वित्वसंख्याविशिष्टौ, अपि= समुच्चयेऽर्थे, साकेतनिवासिनः=अयोध्यास्थायिनः, जनस्य=लोकस्य, अभिनन्द्य-सत्त्वौ=प्रशंसनीयव्यवसायौ, अभूताम्=बभूवतुः । कौ द्वाविति शेषः । गुरुप्रदेयाधि-कनिःस्पृहः=उपाध्यायदातव्यातिरिक्तनिरभिलाषः, गुरवे दातव्यद्रव्याद् विशेषग्रहणे स्पृहारहित इत्यर्थः । अर्थी=याचकः, कौत्स इत्यर्थः । अर्थिकामाद्=याचकाभि-लाषाद् । अधिकप्रदः=विशेषदायकः, नृपः=भूपतिः, रघुरित्यर्थः । च=समुच्चयेऽर्थे ।

स०—निवस्तुं शीलमस्येति निवासी साकेतस्य निवासी साकेतनिवासी तस्य । अभिनन्द्यं सत्त्वं ययोस्तौ तथोक्तौ । गुरवे प्रदेयमिति गुरुप्रदेयम्, तस्मादधिकं गुरु-प्रदेयाधिकं, तस्मिन्निःस्पृहो गुरुप्रदेयाधिकनिःस्पृहः ॥

को०—'वनीयको याचनको मार्गणो याचकार्थिनौ' इत्यम० ॥

ता०—गुरुप्रदेयचतुर्दशकोटिरूपदक्षिणातोऽतिरिक्ते द्रव्ये निःस्पृहः कौत्सोऽर्थिनोऽ-भिलाषापेक्षयाऽधिकप्रदो रघुश्च एतौ द्वावपि स्वं स्वंयावदर्थपरिग्रहकारित्वं प्रार्थनातो ऽधिकदानशालित्वं च प्रदर्शयन्तौ,अयोध्यावासिनो जनस्य प्रशंसनीयतां प्राप्नुवन्तौ॥

इन्दु—वे (अर्थी और दाता) दोनों, अयोध्या केनिवासी लोगों के निकट प्रशंस-नीय व्यवसाय (व्यवहार) वाले हुये, एक तो गुरु के देने (१४ करोड़) से अधिक लेने में निःस्पृह याचक कौत्स ऋषि और दूसरे—याचक की कामना से अधिक देने वाले महाराज रघु ॥ ३१ ॥

अथ सफलमनोरथः सन् गन्तुकामः कौत्सः प्रणतं रघुमुवाचेत्याह—

अथोष्ट्रवामाशतवाहितार्थं प्रजेश्वरं प्रीतमना महर्षिः ।
स्पृशन्करेणानतपूर्वकायं सम्प्रस्थितो वाचमुवाच कौत्सः ॥३२॥

सञ्जी०—अथेति। अथ प्रीतमना महर्षिः कौत्सः सम्प्रस्थितः प्रस्थास्यमानः सन् । 'आशंसायां भूतवच्च' इति भविष्यदर्थे क्तः । उष्ट्राणां क्रमेलकानां वामीनां वडवानां च शतैर्वाहितार्थं प्रापितधनम् । आनतपूर्वकायम् विनयनम्रमित्यर्थः । प्रजेश्वरं रघुं करेण स्पृशन्वाचमुवाच ॥

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अ०—अथ, प्रीतमनाः, महर्षिः, कौत्सः, सम्प्रस्थितः 'सन्', उष्ट्रवामीशतवाहि-

तार्थम्, आनतपूर्वकायं, प्रजेश्वरं, करेण, स्पृशन्, वाचम्, उवाच ॥ वा०—अथ प्रीतमनसा महर्षिणा कौत्सेन सम्प्रस्थितेन 'सता' स्पृशता वागूचे ॥

सुधा०—अथ=अनन्तरं, कामनातोऽधिकार्थप्राप्त्यनन्तरमित्यर्थः । प्रीतमनाः= प्रसन्नमानसः, महर्षिः=अतिसत्यवचाः, कौत्सः=वरतन्तुशिष्यः, सम्प्रस्थितः=स- म्प्रस्थास्यमानः, गन्तुकाम इत्यर्थः । सन्निति शेषः । उष्ट्रवामीशतवाहितार्थं=महाङ्ग- वडवाशतकप्रापितद्रव्यं, शतशः क्रमेलकैरश्वाभिश्च वरतन्तुसविधे धनप्रापणव्यव- स्थाकर्तारमित्यर्थः । आनतपूर्वकायं=अवनतशरीरपूर्वार्धं, विनयेनातिनम्रमित्यर्थः । प्रजेश्वरं=जनाधिपं रघुमित्यर्थः । करेण=हस्तेन, दक्षिणपाणिनेत्यर्थः । स्पृशन्= आमृशन्, स्पर्शं कुर्वन्नित्यर्थः । वाचं=वचः, अग्रे कथ्यमानमिति भावः । उवाच= अवोचत् ॥

स०—उष्ट्राश्च वाम्यश्चोष्ट्रवाम्यः, तासां शतान्युष्टवामीशतानि, तैर्वाहित उष्ट- वामीशतवाहितः, सोऽर्थो येन स उष्ट्रवामीशतवाहितार्थः तं । प्रीतं मनो यस्य स प्रीतमनाः । पूर्वं कायस्य पूर्वकायः, आनतः पूर्वकायो यस्य स आनतपूर्वकायः तं ॥

को०—'उष्ट्रो क्रमेलकमयमहाङ्गा' इति । 'वाम्यश्वा वडवा' इति चा० ॥

ता०—वाञ्छितार्थप्राप्त्यनन्तरं महर्षिः कौत्सोऽतिप्रसन्नमानसः सन् जिगमिषुः शतशः क्रमेलकैरश्वाभिश्च वरतन्तुमहर्षेराश्रमं स्वर्णराशिं प्रापयितुं कृतसमुचितप्रबन्धं प्रणतं रघुं करेण स्पृशन् वक्ष्यमाणप्रकारेणोवाच ॥

इन्दुः—इसके बाद प्रसन्न मन हो महर्षि कौत्स प्रस्थान करते हुये, सैकड़ों ऊटों और घोड़ियों से धन को (पहुँचवा देने वाले) पहुँचा देने का प्रबन्ध कर देने वाले, शरीर के आगे के भाग को झुकाये हुये अर्थात् विनय से नम्र प्रजाओं के प्रभु रघु महाराज को हाथ से स्पर्श करते हुए अर्थात् उनके ऊपर हाथ फेरते हुए बोले ॥३२॥

अथ कौत्सः स्वर्णवृष्टिमवलोक्य तदीयमत्यद्भुतं प्रभावं प्रशंसन्नाह—

किमत्र चित्रं यदि कामसूर्भूर्वृत्ते स्थितस्याधिपतेः प्रजानाम् ।
अचिन्तनीयस्तु तव प्रभावो मनीषितं द्यौरपि येन दुग्धा ॥ ३३ ॥

सञ्जी०—किमिति । वृत्ते स्थितस्य (न्यायेनार्जनमर्थस्य वर्धनं पालनं तथा । सत्पात्रे प्रतिपत्तिश्च राजवृत्तं चतुर्विधम् ॥) इति कामन्दकः । तस्मिन्वृत्ते स्थितस्य । प्रजानामधिपतेर्नृपस्य भूःकामान्सूत इति कामसूर्यदि । 'सत्सूद्विषद्रुहदुहयुजविदभिद- च्छिदजिनीराजामुपसर्गेऽपि क्विप्' इत्यनेन क्विप् । अत्र कामप्रसवने किं चित्रम् ? न चित्रमित्यर्थः । किन्तु तव प्रभावो महिमा त्वचिन्तनीयः । येन त्वया द्यौरपि मनी- षितमभिलषितं दुग्धा । दुहेर्द्विकर्मकत्वादप्रधाने कर्मणि क्तः । (प्रधानकर्मण्याख्येये लादीनाहुर्द्विकर्मणाम् । अप्रधाने दुहादीनां ण्यन्ते कर्तुश्च कर्मणः ॥) इति स्मरणात् ॥

अ०—वृत्ते, स्थितस्य, प्रजानाम्, अधिपतेः, भूः, कामसूः, यदि, अत्र, किं चित्रं ? 'किन्तु' तव, प्रभावः, तु, अचिन्तनीयः; येन, द्यौः, अपि, मनीषितं, दुग्धा ।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy - Kathmandu Collection

वा०—भुवा कामसुवा यदि 'भूयते' अत्र केन चित्रेण 'भूयते' तव प्रभावेण त्वचिन्तनीयेन 'भूयते' येन त्वं द्यामपि मनीषितुं दुग्धवान् ॥

सुधा—वृत्ते=वृत्तौ, कामन्दकोक्तचतुर्विधराजवृत्त इत्यर्थः । स्थितस्य=वर्त्तमानस्य, प्रजानां=जनानाम्, अधिपतेः=अधीश्वरस्य, राज्ञ इत्यर्थः । भूः=पृथ्वी, कामसूः=अभिलषितप्रसूः, यदि=चेद्, अस्तु तर्हीति शेषः । अत्र=अस्मिन्, पृथिव्या अभिलषितवस्तुप्रसवनविषय इत्यर्थः । किं=प्रकारार्थे, चित्रम्=आश्चर्यं, न किमप्याश्चर्यमित्यर्थः । किन्त्विति शेषः । तव=भवतः, रघोरित्यर्थः । प्रभावः=शक्तिः, सामर्थ्यमित्यर्थः । तु=अवधारणेऽर्थे, अचिन्तनीयः=अतर्क्यः, चिन्तयितुमशक्य इत्यर्थः । येन=पूर्वोक्तेन, प्रभावेणेत्यर्थः । त्वयेति शेषः, द्यौः=स्वर्गः, अपि=समुच्चयेऽर्थे, मनीषितम्=अभीप्सितं, दुग्धा=अदुह्यत ।

स०—चिन्तयितुं शक्यश्चिन्तनीयः न चिन्तनीय इत्यचिन्तयीयः ।

को०—'किं वितर्के परिप्रश्ने क्षेपे निन्दाप्रकारयोरि'ति वि० ।

ता०—'न्यायेनार्जनमर्थस्य वर्धनं पालनं तथा । सत्पात्रे प्रतिपत्तिश्च राजवृत्तं चतुर्विधम्' इति कामन्दोक्तचतुर्विधराजवृत्तानुसारी राजा पृथ्वीसकाशान्निजाभीष्टं वस्तु यत्प्राप्नोति तन्नाश्चर्यकरं भवति, किन्तु भवान् यत्स्वर्गादपि स्वर्णवृष्ट्या स्वाभिलषितं लब्धवांस्तदेव परमाश्चर्यजनकमस्ति ॥

इन्दुः—'न्याय से धन का उपार्जन करना, बढ़ाना, रक्षा करना, सत्पात्र को देना' इस तरह के चार प्रकार के राजाओं के व्यवहार में स्थित रहने वाले राजा की भूमि अभिलषित वस्तुओं की पैदा करने वाली यदि होवे तो इस विषय में कोई आश्चर्य नहीं है, किन्तु आपका प्रभाव वस्तुतः निश्चय करके अचिन्तनीय (आश्चर्यजनक) है कि जिस प्रभाव से भी अपने अभिलषित वस्तु को स्वर्ग से भी दुहा अर्थात् प्राप्त किया॥

संप्रति कौत्सो रघवे 'पुत्रं स्वानुरूपं लभस्व' इत्याशीर्वादं ददाविवत्याह—

आशास्यमन्यत्पुनरुक्तभूतं श्रेयांसि सर्वाण्यधिजग्मुषस्ते ।
पुत्रं लभस्वात्मगुणानुरूपं भवन्तमीड्यं भवतः पितेव ॥ ३४ ॥

सञ्जी०—आशास्यमिति । सर्वाणि श्रेयांसि शुभान्यधिजग्मुषः प्राप्तवतस्ते तवान्यत्पुत्रातिरिक्तमाशास्यमाशीः साध्यमाशंसनीयं वा पुनरुक्तभूतम् । सर्वं सिद्धमित्यर्थः । किं त्वीड्यं स्तुत्यं भवन्तं भवतः पितेवात्मगुणानुरूपम् । त्वया तुल्यगुणमित्यर्थः । पुत्रं लभस्व प्राप्नुहि ।

अ०—सर्वाणि, श्रेयांसि, अधिजग्मुषः, ते, अन्यद्, आशास्यम्, पुनरुक्तभूतम्, 'अस्ति' । किन्तु', ईड्यं, भवन्तं भवन्तः, पिता, इव, 'त्वमपि' आत्मगुणानुरूपम्, पुत्रं, लभस्व । वा०—तेऽन्येनाशास्येन पुनरुक्तभूतेन (भूयते) ईड्यो भवान् भवतः पित्रेव 'त्वयाऽपि' आत्मगुणानुरूपः पुत्रो लभ्यताम् ।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

सुधा०—सर्वाणि=अखिलानि, श्रेयांसि=शुभानि. अधिजग्मुषः=लब्धवतः, ते=

तव, रघोरित्यर्थः । अन्यद् = अपरम्, पुत्रापेक्षयेतरदित्यर्थः । आशास्यम्=आशंसनीयम्, आशीर्वादविषयमिति भावः । पुनरुक्तभूतं=द्विरुक्तभूतम्, अखिलं सिद्धमित्यर्थः । किन्त्विति शेषः । इड्यं=प्रशंसाऽर्हम्, भवन्तं = त्वां, रघुमित्यर्थः । भवतः = तव, पिता = जनकः, दिलीप इत्यर्थः । इव = यथा, त्वमपीति शेषः । आत्मगुणानुरूपं = स्वसदृशगुणोपेतं, स्वसदृशमित्यर्थः । पुत्रं = तनयं, लभस्व = अधिगच्छ ॥

स०—आत्मनो गुणा आत्मगुणाः तेषामनुरूप आत्मगुणानुरूपः तम् ।

को०—'श्रेयो मुक्तौ शुभे धर्मेऽतिप्रशस्ते च वाच्यवदि'ति मे० ॥

ता०—महाप्रभावशालिनश्चक्रवर्त्तिनस्ते स्वर्गीयमपि सर्वं सौख्यमस्ति, किन्तु पुत्रसुखं नास्त्यतो मदाशिषा स्वसदृशं पुत्रं तथैव प्राप्नुहि, यथा ते पिता त्वामाप्तवान् ।

इन्दुः—सभी कल्याणों को प्राप्त किये हुये, आपके लिये पुत्र के अतिरिक्त आशीर्वाद देना व्यर्थ है, अर्थात् सभी उपस्थित हैं, किन्तु फिर भी (पुत्र सुख न होने से मेरे आशीर्वाद से) प्रशंसा के योग्य अपने सदृश पुत्र को आपके पिता दिलीप महाराज ने जैसे पाया, वैसे ही आप भी अपने समान गुण से युक्त अर्थात् अपने तुल्य ही पुत्र को प्राप्त करें ॥ ३४ ॥

अथ कौत्स इत्थं रघव आशीर्वादं दत्वा गुरोः सकाशं गतः, सोऽपि शीघ्रमृषेराशिषा पुत्रं प्राप्तवानित्याह—

इत्थं प्रयुज्याशिषमग्रजन्मा राज्ञे प्रतीयाय गुरोः सकाशम् ।
राजाऽपि लेभे सुतमाशु तस्मादालोकमर्कादिव जीवलोकः ॥३५॥

सञ्जी०—इत्थमिति । अग्रजन्मा ब्राह्मणः । 'अग्रजन्मा द्विजे श्रेष्ठे भ्रातरि ब्रह्मणि स्मृतः' इति विश्वः । इत्थं राज्ञ आशीषं प्रयुज्य दत्वा गुरोः सकाशं समीपं प्रतीयाय प्राप । राजाऽपि । जीवलोको जीवसमूहः । 'जीवः प्राणिनि गीष्पतौ इति विश्वः । अर्कादालोकं प्रकाशमिव । शीघ्रम् । 'चैतन्यम्' इति पाठे ज्ञानम् । तस्मादृषेराशु सुतं लेभे प्राप ॥

क०—अग्रजन्मा:, इत्थं, राज्ञे, आशिषं, प्रयुज्य, गुरोः, सकाशं, प्रतीयाय । राजा अपि, जीवलोकः, अर्कात्, आलोकम्, इव, तस्मात्, आशु, सुतं, लेभे । वा०—अग्रजन्मना सकाशं प्रतीये, राज्ञाऽपि जीवलोकेनालोक इवः सुतो लेभे ।

सुधा०—अग्रजन्मा=द्विजश्रेष्ठः, ब्राह्मणः कौत्स इत्यर्थः । इत्थम्=अमुना प्रकारेण, पूर्वोक्तरीत्येत्यर्थः । राज्ञे = नृपाय, रघव इत्यर्थः । आशिषं = हिताशंसाम्, आत्मगुणानुरूपं पुत्रं लभस्वेतिरूपामिति भावः । प्रयुज्य = दत्वा, गुरोः = उपाध्यायस्य, वरतन्तुमहर्षेरित्यर्थः । सकाशम्=अन्तिकं, प्रतीयाय = प्रतिययौ, प्राप्तवानित्यर्थः । राजा = नृपः, रघुरित्यर्थः । अपि = समुच्चयेऽर्थे, जीवलोकः = प्राणिजनः प्राणिसमूह इत्यर्थः । अर्कात् = सूर्यात्, आलोकं = प्रकाशम्, इव = यथा, तस्मात् = पूर्वोक्ताद्, महर्षिकौत्सादित्यर्थः । आशु = शीघ्रं, सुतं = पुत्रं, लेभे = लब्धवान् ।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

सा०—अग्रे जन्म यस्य सोऽग्रजन्मा । जीवस्य लोक इति जीवलोकः ॥

को०—'स्त्रीत्वाशीर्हिताशंसाऽहिदंष्ट्रयोरि'त्य० । 'आशुस्तु व्रीहिशीघ्रयोरि'ति मे०॥

ता०—पूर्वोक्तप्रकारेण महर्षिः कौत्सो रघव आशिषं दत्त्वा स्वगुरोर्महर्षिवरतन्तोः समीपं ययौ, स महाराजो रघुरपि सत्यवचसः कौत्सस्याशीर्वादप्रभावाच्छीघ्रं पुत्रं तथैव प्राप्तवान् यथैव प्राणिसमूहःसू र्याच्छीघ्रमेव प्रकाशं प्राप्नोति, अर्थात् तन्महिषी शीघ्रमेव गर्भमाधत्त ॥

इन्दुः—ब्राह्मण कौत्स महर्षि इस प्रकार राजा को आशीर्वाद देकर अपने गुरु वरतन्तु महर्षि के पास चले गये और राजा ने भी जैसे जीव-समूह सूर्य से प्रकाश को शीघ्र प्राप्त करता है, उसी तरह उन पूर्वोक्त महर्षि कौत्स के आशीर्वाद से शीघ्र ही पुत्र को प्राप्त किया, अर्थात् उनकी महिषी ने गर्भ धारण किया ॥ ३५ ॥

अथ कौत्समहर्षेराशीर्वादेन ब्राह्मे मुहूर्त्ते रघोर्महिषी पुत्ररत्नं प्रसूत, अत एव तस्य 'अजः' इति नामकरणं बभूवेत्याह—

ब्राह्मे मुहूर्ते किल तस्य देवी कुमारकल्पं सुषुवे कुमारम् ।
अतः पिता ब्रह्मण एव नाम्ना तमात्मजन्मानमजं चकार ॥ ३६ ॥

सञ्जी०—ब्राह्म इति । तस्य रघोर्देवी महिषी ब्राह्मे । 'तस्येदम्' इत्यण् । ब्रह्मदेवताकेऽभिजिन्नामके मुहूर्त्ते किलेषदसमाप्तं कुमारं कुमारकल्पं स्कन्दसदृशम् । 'ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः' इत्यनेन कल्पप्प्रत्ययः । कुमारं पुत्रं सुषुवे । 'कुमारो बालके स्कन्दे' इति विश्वः । अतो ब्राह्ममुहूर्तोत्पन्नत्वात्पिता रघुर्ब्रह्मणो विधेरेव नाम्ना तमात्मजन्मानं पुत्रमजमजनामकं चकार । 'अजो हरौ हरे कामे विधौ छागे रघोः सुते' इति विश्वः ॥

अ०—तस्य, देवी, ब्राह्मे, मुहूर्ते, किल, कुमारकल्पं, कुमारं, सुषुवे, अतः, पिता, ब्रह्मणः, एव, नाम्ना, तम्, आत्मजन्मानम्, अजं, चकार ॥ वा०—देव्या कुमारकल्पः कुमारः सुषुवे, पित्रा स आत्मजन्माऽजश्चक्रे ॥

सुधा—तस्य=पूर्वोक्तस्य, रघोरित्यर्थः । देवी=कृताभिषेका पत्नी, महिषीत्यर्थः । ब्राह्मे=ब्रह्मदेवताके' अभिजिदाख्य इत्यर्थः । मुहूर्त्ते=घटिकाद्वितयभोग्यकाले, किल= प्रसिद्धौ, कुमारकल्पं=स्कन्दतुल्यं, कुमारं=बालकं, सुषुवे=असूत, अतः=एतस्मात्, हेतौ पञ्चमी बोध्या । ब्राह्ममुहूर्त्तजातत्वादित्यर्थः । पिता=जनकः, रघुरित्यर्थः । ब्रह्मणः=विश्वसृजः, एव=अवधारणेऽर्थे, नाम्ना=संज्ञया, तम्=पूर्वोक्तं ब्राह्ममुहूर्त्तोत्पन्नमित्यर्थः । आत्मजन्मानं=तनयम्, अजम्=अजाह्वयं, चकार=कृतवान् ॥

स०—आत्मनः सकाशाज्जन्म यस्य स आत्मजन्मा तम् ।

को०—'देवी कृताभिषेकायां तेजनीस्पृक्कयोरपि' इति मे० ॥

ता०—रघोर्महिषी अभिजिन्नामके ब्रह्मदेवताके मुहूर्ते कार्त्तिकेयतुल्यं बालकमसूत, अतो ब्राह्ममुहूर्त्तोत्पन्नत्वात् तस्य पिता रघुर्ब्रह्मणः 'अज' इत्याकारकनाम्नैव

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

तन्नाम 'अज' इत्याकारकं कृतवान् ॥

इन्दुः—उन रघु महाराज की पटरानी ने ब्रह्मा जिसके अधिष्ठात्री देवता हैं ऐसे अभिजिन्नामक मुहूर्त में कार्त्तिकेय के समान बालक पैदा किया, इससे अर्थात् ब्राह्ममुहूर्त में उत्पन्न होने से पिता रघु महाराज ने ब्रह्मा के ही 'अज' इस नाम से उसे पुत्र का 'अज' नाम रक्खा ॥ ३६ ॥

अथ बालको निजपितृतुल्य एवाभूदित्याह—

रूपं तदोजस्वि तदेव वीर्यं तदेव नैसर्गिकमुन्नतत्वम्।
न कारणात्स्वाद्बिभिदे कुमारः प्रवर्तितो दीप इव प्रदीपात् ॥ ३७ ॥

सञ्जी०—रूपमिति। ओजस्वि तेजस्वि बलिष्ठं वा। 'ओजस्तेजसि धातूनामव-ष्टम्भप्रकाशयोः। ओजो बले च दीप्तौ च' इति विश्वः। रूपं वपुः। 'अथ रूपं नपुंसकम्। स्वभावाकृतिसौन्दर्यवपुषि श्लोकशब्दयोः' ॥ इति विश्वः। तदेव पैतृकमेव। वीर्यं शौर्यं तदेव। नैसर्गिकं स्वाभाविकमुन्नतत्वं तदेव। तादृशमेवेत्यर्थः। कुमारो बालकः। प्रवर्तित उत्पादितो दीपः प्रदीपात्स्वोत्पादकदीपादिव। स्वात्स्व-कीयात्। 'पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा' इति स्माद्भावो वैकल्पिकः। कारणाज्जनकान्न बिभिदे भिन्नो नाभूत्। सर्वात्मना तादृश एवाभूदित्यर्थः।

अ०—ओजस्वि, रूपं, तद्, 'एव', वीर्यं, तद्, एव, नैसर्गिकम्, उन्नतत्वं तद्, एव, 'अभूत्', कुमारः, प्रवर्त्तितः दीपः, प्रदीपात्, इव, स्वात्, कारणात्, न, बिभिदे ॥

वा०—ओजस्विना रूपेण तेनैव वीर्येण तेनैव नैसर्गिकेणोन्नतत्वेन 'च' तेनैव 'अभूयत' कुमारेण प्रवर्तितेन दीपेन प्रदीपादिव स्वात् कारणात् न बिभिदे ॥

सुधा— ओजस्वि=तेजस्वि, रूपं=वपुः, शरीरमित्यर्थः। तत्=पैतृकम्, एव=अवधारणेऽर्थे, वीर्यं=पराक्रमं, तदेव=पैतृकमेव, नैसर्गिकं=प्राकृतम्, अकृत्रिममि-त्यर्थः। उन्नतत्वम्=औन्नत्यं, चित्तौन्नत्यमित्यर्थः। तदेव=पैतृकमेव, यथा रघो रूपादिकमासीत्तद्वद्बालकस्याजस्याप्यासीन्न तु किञ्चिन्न्यूनमित्यर्थः कुमारः=बालकः, अज इत्यर्थः। प्रवर्तित=उत्पादितः, दीपः=प्रदीपः, प्रदीपात्=दीपात्, स्वोत्पादक-दीपादित्यर्थः। इव=यथा, स्वात्=स्वकीयात्, आत्मीयादित्यर्थः। कारणात्–निमि-त्तात्, जनकादित्यर्थः। न=नहि, बिभिदे=अभिनत्, भिन्नो न बभूव, अर्थात् सर्वथा तत्तुल्य एवाभूत् ॥

स०—ओजोऽस्त्यस्मिन्नित्योजस्वि। निसर्गतो जातं नैसर्गिकम् ॥

को०—'निसर्गः सृष्टौ स्वभावे' इत्यने०। 'बन्धुरं तून्नतानतमिति। 'दीपः प्रदीपः' इति चा० ॥

ता०—यथैकस्मात्प्रदीपात्प्रज्वालितोऽपरः प्रदीपः स्वोत्पत्तिकारणात्पूर्वप्रदीपात् किञ्चिन्मात्रमपि प्रकाशादिगुणे न्यूनो न भवति किन्तु तत्सदृश एव भवति, तथैव कुमारोऽजोऽपि रूपपराक्रमादिभिः सर्वथा स्वजनकेन रघुणा तुल्य एवाभूत् ॥

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

इन्दुः—पिता के तुल्य तेज से युक्त शरीर वही, पराक्रम वही, स्वाभाविक चित्त का उन्नत होना भी वही, अर्थात्–पिता ही के तुल्य होने से बालक अज, जैसे—जलाया गया दीपक (जिस दीपक से जलाया गया है) उस (दीपक) से भिन्न नहीं होता, अर्थात्-उसी तरह से प्रकाशक होता है, उसी भाँति उत्पन्न करने वाले पिता रघु से भिन्न नहीं हुए, अर्थात् शरीर-पराक्रम आदि में पिता के समान ही हुए ।।३७।।

अथ बालकोऽजः क्रमशः सर्वा विद्या अधीत्य युवावस्थां प्राप्तः सन् यौवराज्यार्होऽभूदित्याह—

उपात्तविद्यं विधिवद् गुरुभ्यस्तं यौवनोद्भेदविशेषकान्तम् ।
श्रीः साभिलाषाऽपि गुरोरनुज्ञां धीरेव कन्या पितुराचकाङ्क्ष ।। ३८ ।।

सञ्जी०—उपात्तविद्यमिति । गुरुभ्यो विधिवद्यथाशास्त्रमुपात्तविद्यं लब्धविद्यम् । यौवनस्योद्भेदादाविर्भावाद्धेतोर्विशेषेण कान्तं सौम्यं तमजं प्रति साभिलाषाऽपि श्रीः । धीरा स्थिरोन्नतचित्ता । 'स्थिरा चित्तोन्नतिर्या तु तद्धैर्यमिति संज्ञितम्' इति भूपालः । कन्या पितुरिव । गुरोरनुज्ञामाचकाङ्क्षेयेष । यौवराज्यार्होऽभूदित्यर्थः । अनुज्ञाशब्दात्पितृपारतन्त्र्यमुपमासामर्थ्यात्पाणिग्रहणयोग्यता च ध्वन्यते ॥

अ०—गुरुभ्यः, विधिवद्, उपात्तविद्यं, यौवनोद्भेदविशेषकान्तं, तम्, 'प्रति', साभिलाषा, अपि, श्रीः, धीरा, कन्या, पितुः, इव, गुरोः, अनुज्ञाम्, आचकाङ्क्ष ॥

वा०—तं प्रति साभिलाषयाऽपि श्रिया धीरया कन्ययाऽनुज्ञाऽऽचकाङ्क्षे ॥

सुधा—गुरुभ्यः = उपाध्यायेभ्यः, विधिवद् = यथाविधि, शास्त्रोक्तरीत्येत्यर्थः । उपात्तविद्यं=प्राप्तचतुर्दशविद्यं यौवनोद्भेदविशेषकान्तं=तारुण्यप्रादुर्भावातिशयसुन्दरं तं=पूर्वोक्तम्, अजमित्यर्थः । प्रतीति शेषः । साभिलाषा=स्पृहावती, अनुरागिणीत्यर्थः । अपि=समुच्चयेऽर्थे, श्रीः=लक्ष्मीः, राजलक्ष्मीरित्यर्थः । धीरा=धैर्ययुक्ता, उन्नतचित्तेत्यर्थः । कन्या=कुमारी, अनूढेत्यर्थः । पितुः=जनकस्य, इव=यथा, गुरोः=श्रेष्ठस्य, रघोरित्यर्थः । अनुज्ञाम् = अनुमतिम्, आचकाङ्क्ष=चकमे, ऐच्छदित्यर्थः । युवराजपदे स्थापनार्होऽजोऽभूदिति भावः ॥

स०—विशेषेण कान्तो विशेषकान्तः, यूनो भावो यौवनं तस्योद्भेदो यौवनोद्भेदः तस्माद् विशेषकान्तो यौवनोद्भेदविशेषकान्तः तं तथोक्तम् ।

को०—'तारुण्यं यौवनं समे' इत्य० । 'कन्या कुमारिकानार्योरोषधीराशिभेदयोरि' ति मे० ।

ता०—यथोन्नतचित्ता काऽपि कन्यायोग्यं स्वाभीप्सितं वरं वरीतुं सोत्कण्ठा सत्यपि पितुरनुमतिमेव प्रतीक्षते, तथैव राजलक्ष्मीरपि तारुण्याविर्भावादतिसुन्दरं सर्वराजोचितगुणसम्पन्नमजं वरीतुमुत्कण्ठिताऽपि गुरुजनस्य रघोरनुमति प्रतीक्षाञ्चक्रे॥

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

इन्दुः—गुरुओं से विधिवद् (शास्त्रोक्त रीति से ब्रह्मचर्यादि रहकर तथा गुरुओं की सेवा करके) सम्पूर्ण १४ विद्याओं को प्राप्त किये हुए, जवानी आने से अत्यन्त

सुन्दर उन राजकुमार अज के प्रति अनुरागिणी होती हुई भी राजलक्ष्मी धीरा (स्थिर उन्नत चित्त वाली) कन्या जैसे पिता की आज्ञा (मनोवाञ्छित पतिवरण करने के लिये) चाहती है, वैसे ही श्रेष्ठ रघु महाराज की अनुमति चाहने लगी, अर्थात् राजकुमार अज युवराज बनाने के योग्य हो गये ॥ ३८ ॥

अथ रघुसमीपं विदर्भराजप्रेषितो दूत इन्दुमतीस्वयंवरार्थमजस्यानयनार्थमाजगामेत्याह—

अथेश्वरेण क्रथकैशिकानां स्वयंवरार्थं स्वसुरिन्दुमत्याः ।
आप्तः कुमारानयनोत्सुकेन भोजेन दूतो रघवे विसृष्टः ॥ ३९ ॥

सञ्जी०—अथेश्वरेणेति । अथ स्वसुर्भगिन्या इन्दुमत्याः स्वयंवरार्थं कुमारस्याजस्यानयन उत्सुकेन क्रथकैशिकानां विदर्भदेशानामीश्वरेण स्वामिना भोजेन राज्ञाऽऽप्तो प्रहितो दूतो रघवे विसृष्टः प्रेषितः (क्रियामात्रयोगेऽपि चतुर्थी) ॥

स०—अथ, स्वसुः, इन्दुमत्याः, स्वयंवरार्थं, कुमारानयनोत्सुकेन, क्रथकैशिकानाम्, ईश्वरेण, भोजेन, आप्तः, दूतः, रघवे, विसृष्टः ॥ वा०—कुमारानयनोत्सुकः क्रथकैशिकानामीश्वरो भोज आप्तं दूतं विसृष्टवान् ।

सुधा—अथ=अनन्तरं, स्वसुः=सोदर्य्यायाः, भगिन्या इत्यर्थः । इन्दुमत्याः=तदाख्यायाः, स्वयंवरार्थं=स्वयंवराय, स्वेच्छया राजसभायां पतिवरणार्थमित्यर्थः । कुमारानयनोत्सुकेन=युवराजानयनोत्कण्ठितेन, अजस्यानयविषये सोत्कण्ठेनेत्यर्थः । क्रथकैशिकानां=विदर्भदेशानाम्, ईश्वरेण=प्रभुणा, विदर्भाधिपतिनेत्यर्थः । भोजेन=तदाह्वयेन, केनचिद्राज्ञेत्यर्थः । आप्तः=प्रत्ययितः, विश्वस्त इत्यर्थः । दूतः=सन्देशहरः रघवे=दिलीपसूनवे, रघुं प्रतीत्यर्थः । विसृष्टः=विससृजे । अजानयनार्थं भोजप्रेषितो दूतो रघुमाजगाम ।

स०—कुमारस्यानयनं कुमारानयनं तत्रोत्सुकः कुमारानयनोत्सुकः तेन तथोक्तेन ।

को०—'ईश्वरो मन्मथे शम्भौ नाऽऽढ्ये स्वामिनि वाच्यवदि'ति वि० । 'भगिनी-स्वसे'त्य० । 'स्यात्सन्देशहरो दूतः' इति चामरः ।

ता०—अथ विदर्भदेशाधिपतिर्भोजो भगिन्या इन्दुमत्याः स्वयंवरार्थं युवराजस्यानयनार्थं रघुसमीपे कश्चिदात्मीयो विश्वस्तो दुतं प्रेषितवान् ।

इन्दुः—इसके बाद अपनी बहिन इन्दुमती के स्वयंवर के लिये युवराज 'अज' को बुलवाने में उत्कण्ठित विदर्भदेश के महाराज भोज ने अपना विश्वासपात्र दूत को रघु महाराज के पास भेजा ॥ ३९ ॥

अथ रघुर्विदर्भाधिपराजधानीम् प्रत्यजं सैन्यैः सह प्रस्थापयामासेत्याह—

तं श्लाघ्यसम्बन्धमसौ विचिन्त्य दारक्रियायोग्यदशं च पुत्रम् ।
प्रस्थापयामास ससैन्यमेनमृद्धां विदर्भाधिपराजधानीम् ॥ ४० ॥

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

सञ्जी०—तमिति । असौ रघुस्तं भोजं श्लाघ्यसम्बन्धमनूचानत्वादिगुणयोगात्स्पृहणीयसम्बन्धं विचिन्त्य विचार्य पुत्रं च दारक्रियायोग्यदशं विवाहयोग्यवयसं विचिन्त्य ससैन्यमेनं पुत्रमृद्धां समृद्धां विदर्भाधिपस्य भोजस्य राजधानीं पुरीं प्रति प्रस्थापयामास । धीयतेऽस्यामिति धानी । 'करणाधिकरणयोश्च' इत्यधिकरणे ल्युट्प्रत्ययः । राज्ञां धानीति विग्रहः ।

अ०—असौ, तं, श्लाघ्यसम्बन्धं, विचिन्त्य, पुत्रं, च, दारक्रियायोग्यदशं, 'विचिन्त्य' ससैन्यम्, एनम्, ऋद्धाः विदर्भाजिपराजधानीं, 'प्रति' प्रस्थापयामास ।

वा०—अनेन ससैन्य एष प्रस्थापयाञ्चक्रे ।

सुधा०—असौ=एषः, रघुरित्यर्थः । तं=पूर्वोक्तं, भोजमित्यर्थः । श्लाघ्यसम्बन्धं=कमनीयसम्बन्धं, साङ्गवेदविचक्षणत्वविनयादिसद्गुणयोगादिति भावः । विचिन्त्य=समीक्ष्य, पुत्रं=तनयम्, अजमित्यर्थः । च=समुच्चयेऽर्थे, दारक्रियायोग्यदशम्=उद्वाहार्हावस्थं, विवाहयोग्यवयस्कमित्यर्थः । विचिन्त्येत्यस्यात्राप्यन्वयः कार्यः । ससैन्यं=बलसंयुतं, सेनासहितमित्यर्थः । एनं=युवराजम्, अजमित्यर्थः । ऋद्धां=समृद्धां सर्वैश्वर्यसम्पन्नामित्यर्थः । विदर्भाधिपराजधानीं=क्रथकैशिकेश्वरपरीम्, भोजनगरीमित्यर्थः । प्रतीति शेषः । प्रस्थापयामास=प्रस्थापयति स्म, प्रेषयामासेत्यर्थः ।

स०—दाराणां क्रिया दारक्रिया तस्या योग्या दारक्रियायोग्या तादृशी दशा यस्य स दारक्रियायोग्यदशः तं तथोक्तम् । विदर्भाणामधिपो विदर्भाधिपः तस्य राजधानी विदर्भाधिपराजधानी तां तथोक्ताम् ॥ ४० ॥

को०—'योग्यः प्रवीणयोगार्होपायशक्तेषु वाच्यवदि'ति मे० । 'दशा-वस्थासिवस्थायां वस्त्रान्ते भूम्नि पुंस्त्रियोः' इति रभसः ।

ता०—महाराजो रघुर्विदर्भाधिपतिना सह सम्बन्धं प्रशंसनीयं मत्वा पुत्रं च विवाहयोग्यवयस्कं मत्वा सैन्येन सहितं युवराजमजं भोजराजधानीम्प्रति प्रेषयामास ।

इन्दु—रघु महाराज ने भोज के साथ सम्बन्ध प्रशंसनीय होगा, यह सोच कर तथा पुत्र की विवाह के योग्य अवस्था विचार कर सेना के सहित युवराज अज को समृद्धि-युक्त विदर्भ देश के महाराज की राजधानी को भेजा ॥ ४० ॥

अथ विदर्भराजधानीं प्रति गच्छतो रघुसूनोर्मार्गे रचितानि निवासस्थानानि नगरीविहारस्थानतुल्यान्यासन्नित्याह—

तस्योपकार्यारचितोपचारा वन्येतरा जानपदोपदाभिः ।
मार्गे निवासा मनुजेन्द्रसूनोर्बभूवुरुद्यानविहारकल्पाः ॥ ४१ ॥

सञ्जी०—तस्येति । उपकार्यासु राजयोग्येषु पटभवनादिषु । 'सौधोऽस्त्री राजसदनमुपकार्योपकारिका' इत्यमरवचनव्याख्याने क्षीरस्वामी । उपक्रियत उपकरोति वा पटमण्डपादि राजसदनमिति । रचिता उपचाराः शयनादयो येषु ते तथोक्ताः । जान-

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

पदानां जनपदेभ्य आगतानामुपदाभिरुपायनैः वन्या वने भवा इतरे येषां ते वन्येतराः। अवन्या इत्यर्थः। 'न बहुव्रीहौ' इति सर्वनामसंज्ञानिषेधः। तत्पुरुषे सर्वनामसंज्ञा दुर्वारैव। तस्य मनुजेन्द्रसूनोरजस्य मार्गे निवासा वासनिका उद्यानान्याक्रीडाः। 'पुमानाक्रीड उद्यानम्' इत्यमरः। तान्येव विहारा विहारस्थानानि तत्कल्पाः। तत्सदृशा इत्यर्थः। 'ईषदसमाप्तौ०' इति कल्पप्प्रत्ययः। बभूवुः।

अ०—उपकार्यारचितोपचाराः, जानपदोपदाभिः वन्येतराः, तस्य, मनुजेन्द्रसूनोः, मार्गे, निवासाः, उद्यानविहारकल्पाः, बभूवुः। वा०—उपकार्यारचितोपचारैर्वन्येतरैर्निवासैरुद्यानविहारकल्पैर्बभूवे।

सुधा०—उपकार्यारचितोपचाराः=उपकारिकानिष्पादितशयनाद्युपचाराः, पटनिर्मितराजसदनेषु विरचितशयनादिशालिन इत्यर्थः। जानपदोपदाभिः=जनपदागतोपहारैः, वन्येतराः=वनोद्भवान्याः, वनोद्भवभिन्ना इत्यर्थः। तस्य=पूर्वोक्तस्य, मनुजेन्द्रसूनोः=नरेश्वरतनयस्य, अजस्येत्यर्थः। मार्गे=अध्वनि, निवासाः=निवासगृहाः, उद्यानविहारकल्पाः=आक्रीडविहारस्थानतुल्याः, राजकीयसर्वोपभोग्यवनविहारस्थानसदृशा इत्यर्थः। बभूवुः=अभूवन्, यथाऽयोध्यायां राजकीयसर्वोपभोग्यवनानि विहारस्थानान्यासन्, तद्वदत्रापि प्रत्येकनिवासस्थानानि तत्प्रभावाद् विहारस्थानतुल्यान्यासन्निति भावः॥ ४१॥

स०—उपक्रियन्त इत्युपकार्याः तत्र रचिता उपकार्यारचिताः त उपचारा येषु त उपकार्यारचितोपचाराः। जनपदेभ्य आगता इति जानपदाः तेषामुपदा जानपदोपदास्ताभिस्तथोक्ताभिः। मनुजेष्विन्द्रो मनुजेन्द्रः तस्य सूनुर्मनुजेन्द्रसूनुः तस्य तथोक्तस्य। उद्यानान्येव विहारा इत्युद्यानविहाराः ईषदूना उद्यानविहारकल्पाः।

को०—'उपकार्या राजसद्मन्युपकारोचितेऽन्यवत्' इत्य०।

ता०—विदर्भाधिपराजधानीं प्रति सैन्येन सह गच्छतस्तस्याजस्य मार्गे राजयोग्यपटमण्डपेषु रचितसयनादिभिर्जनपदनिवासिभिरुपायनीकृताभिर्विविधाभिः सुखसाधनसामग्रीभिर्निवासस्थानानि राजधानीस्थितोद्यानविहारस्थानतुल्यानि बभूवुः।

इन्दु—राजाओं के योग्य तम्बुओं में शय्या आदि जहां पर बिछी हुई हैं तथा नगरों से लाये हुए उपहार स्वरूप सुखसाधन सामग्रियों से जो जंगल में बने हुए की भांति नहीं मालूम पड़ रहे हैं ऐसे महाराज रघु के युवराज अज के मार्ग के निवास-स्थान अपनी राजधानी के बगीचों में बने हुए विहार स्थानों के समान ही हुए॥ ४१॥

अथ रघुसूनुरजो नर्मदातटं प्राप्य तत्र सैन्येन सह निवासं कृतवानित्याह—

स नर्मदारोधसि सीकरार्द्रैर्मरुद्भिरानर्तितनक्तमाले।
निवेशयामास विलङ्घिताध्वा क्लान्तं रजोधूसरकेतु सैन्यम्॥ ४२॥

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

सञ्जी०—स इति। विलङ्घिताध्वाऽतिक्रान्तमार्गः सोऽजः सीकरार्द्रैः। सीतलैः

रित्यर्थः । मरुद्भिर्वातैरानर्तिताः कम्पिता नक्तमालाश्चिरबिल्वाख्यवृक्षभेदा । 'चिर० बिल्वो नक्तमालः करजश्च करञ्जके' इत्यमरः । यस्मिंस्तस्मिन् । निवेशार्हं इत्यर्थः । नर्मदाया रोधसि रेवायास्तीरे क्लान्तं श्रान्तं रजोभिर्धूसराः केतवो ध्वजा यस्य तत्सैन्यं निवेशयामास ।

अ०—विलङ्घिताध्वा, सः, सीकरार्द्रैः, मरुद्भिः, आनर्तितनक्तमाले, नर्मदारोधसि, क्लान्तं, रजोधूसरकेतु, सैन्यं, निवेशयामास । वा०—विलङ्घिताध्वना तेन निवेशयाञ्चक्रे।

सुधा—विलङ्घिताध्वा = अतिवाहितवर्त्मा, सः = पूर्वोक्तः, अज इत्यर्थः । सीक-रार्द्रैः = अम्बुकणक्लिन्नैः, शिशिरैरित्यर्थः । मरुद्भिः=पवनैः, आनर्तितनक्तमाले=सञ्चा-लितकरञ्जके, नर्मदारोधसि = रेवाऽऽख्यसरित्तटे, क्लान्तं=परिश्रान्तं, रजोधूसरकेतु= धूलीषत्पाण्डुकेतनं, सैन्यं = सेनां, निशेषयामास = न्यवेशयत्, निवासं कारया-मासेत्यर्थः ।

स०—आनर्तिता नक्तमाला यस्मिंस्तदानर्तितनक्तमालं तस्मिंस्तथोक्ते । विलङ्घि-तोऽध्वा येन स तथोक्तः । रजोभिर्धूसराः रजोधूसराः ते केतवो यस्य तद् रजोधूसर-केतु तत्तथोक्तम् ।

को०—'रेवा तु नर्मदा सोमोद्भवा मेकलकन्यके'ति । 'कूलं रोधश्च तीरं च प्रतीरं च तटं त्रिषु'ति । 'ईषत्पाण्डुस्तु धूसरः' इति चा० ।

ता०—सोऽज इत्थं सुखेन मार्गमतिक्रामन् धूलिधूसरध्वजं सैन्यं परिक्लान्तं दृष्ट्वा नर्मदातटे शीतलैः पवनैरध्वखेदमपनिनीषुर्निवासं चकार ।

इन्दुः—मार्ग (मञ्जिल) को चल कर पूरा किये हुए युवराज अज ने जल कणों से आर्द्र अर्थात् शीतल वायु से जहाँ पर चिरबिल्वनामक वृक्ष हिल रहे हैं; ऐसे नर्मदा नदी के किनारे पर थकी हुई, धूलि से धूसर जिनकी पताकाएँ हो रही हैं, ऐसी अपनी सेना को ठहराया ॥ ४२ ॥

अथ सेनानिवासकरणानन्तरं नर्मदातः कश्चिद्वन्यो गज उत्थित इत्याह—

अथोपरिष्टाद् भ्रमरैर्भ्रमद्भिः प्राक्सूचितान्तःसलिलप्रवेशः ।
निर्धौतदानामलगण्डभित्तिर्वन्यः सरित्तो गज उन्ममज्ज ॥ ४३ ॥

सञ्जी०—अथेति । अथोपरिष्टादूर्ध्वम् । 'उपर्युपरिष्टात्' इति निपातः । भ्रमद्भिः । मदलोभादिति भावः । भ्रमरैः द्रागुन्मज्जनात्पूर्वं सूचितो ज्ञापितोऽन्तःसलिले प्रवेशो यस्य स तथोक्तः । निर्धौतदाने क्षालितमदे अत एवाऽमले गण्डभित्ती यस्य स तथोक्तः । 'दानं गजमदे त्यागे' इति शाश्वतः । प्रशस्तौ गण्डौ गण्डभित्ती । 'प्रशंसा-वचनैश्च' इति समासः । भित्तिशब्दः प्रशस्तार्थः । तथा च गणरत्नमहोदधौ—'मत-ल्लिकोद्धमिश्राः स्युः प्रकाण्डस्थलभित्तयः' इति । भित्तिः प्रदेशो वा । 'भित्तिः प्रदेशे कुड्येऽपि' इति विश्वः । निर्धौतदानामलगण्डभित्तिरित्यर्थः । वन्यो गजः सरित्तो नर्मदायाः सकाशात् । (पञ्चम्यास्तसिल्प्रत्ययः) । उन्ममज्जोत्थितः ।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अ०—अथ, उपरिष्टाद्, भ्रमद्भिः, भ्रमरैः, प्राक्सूचितान्तःसलिलप्रवेशः, निर्धौतदानामलगण्डभित्तिः, वन्यः, गजः, सरित्तः, उन्ममज्ज ॥ ता०—प्राक्सूचितान्तःसलिलप्रवेशेन निर्धौतदानामलगण्डभित्तिना वन्येन गजेनोन्ममज्जे ।

सुधा०—अथ = अनन्तरं, सेनानिवासकरणानन्तरमित्यर्थः । उपरिष्टा = ऊर्ध्वं, गण्डस्थलोपरीत्यर्थः । भ्रमद्भिः=उड्डीयमानैः, मदगन्धं जिघृक्षुभिरिति भावः । भ्रमरैः = अलिभिः, प्राक्सूचितान्तःसलिलप्रवेशः = प्रथमविज्ञापितजलाभ्यन्तरमज्जनः, उन्मज्जनात् पूर्वं जलाभ्यन्तरे यस्य निमज्जनं संसूचितमित्यर्थः । अत एवेति शेषः । निर्धौतदानामलगण्डभित्तिः = प्रक्षालितमदनिर्मलकटप्रदेशः, जलाभ्यन्तरे निमज्जनेन प्रक्षालितमदतया यस्योभौ कपोलदेशौ स्वच्छावास्तामित्यर्थः । वन्यः=अरण्योद्भवः, गजः = करिः, सरित्तः, = नदीतः, नर्मदायाः सकाशादित्यर्थः । उन्ममज्ज = उत्तस्थौ, जलाभ्यन्तरादुपरि निर्गत इत्यर्थः ।

स०—सलिलस्यान्तरन्तःसलिलं तस्मिन् प्रवेशोऽन्तःसलिलप्रवेशः प्राक्सूचितोऽन्तःसलिलप्रवेशो यस्य स तथोक्तः । निर्धौतं दानं ययोस्ते निर्धौतदानेऽत एवामले गण्डभित्ती यस्य स निर्धौतदानामलगण्डभित्तिः ।

को०—'भ्रमरः कामुके भृङ्गे' इति । 'अमलं त्वभ्रके क्लीवं लक्ष्म्यां स्त्री निर्मले त्रिषु' इथि च मे० । 'गण्डः कटो' इति । 'गण्डः कपोलौ' इति चा० ।

ता०—सेनानिवासकरणानन्तरं जलाभ्यन्तरे निमज्जनेन प्रक्षालितमदतया यस्य कपोलप्रदेशौ निर्मलावास्तां, यथा यस्योपरि मदलोभाद् भ्रमन्तो भ्रमरास्तस्य मदस्राविस्वं पूर्णतया सूचयन्त आसन् , एवंभूतः कश्चिद्वन्यो गजो नर्मदासलिलमध्यादुत्थितः ।

इन्दुः—सेना ठहरा चुकने के बाद, मद के लोभ से ऊपर उड़ते हुए भौंरों से पहले जल में डूब कर जिसका नहाना सूचित हो रहा था, अतएव (जल में डूब कर नहाने से) जिसके मद घुल गये हैं, ऐसे दोनों गन्डस्थल जिसके निर्मल हो रहे हैं ऐसा कोई जङ्गली हाथी नर्मदा नदी से निकला ॥ ४३ ॥

अथ नर्मदासलिलादुत्थितस्य गजस्य शोभां युग्मेन वर्णयितुकामः कविरादौ तस्य वप्रक्रियासूचकं दन्तद्वयमेव वर्णयन्नाह—

निःशेषविक्षालितधातुनाऽपि वप्रक्रियामृक्षवतस्तटेषु ।
नीलोर्ध्वरेखाशबलेन शंसन्दन्तद्वयेनाश्मविकुण्ठितेन ॥ ४४ ॥

सञ्जी०—निःशेषेति । कथम्भूतो गजः । निःशेषविक्षालितधातुनाऽपि धौतगैरिकादिनाऽपि । नीलाभिरूर्ध्वाभी रेखाभिस्तटाभिघातजनिताभिः शबलेन कर्बुरेण । 'चित्रं किर्मीरकल्माषशबलैताश्च कर्बुर' इत्यमरः । अश्मभिः पाषाणैर्विकुण्ठितेन कुण्ठीकृतेन दन्तद्वयेन । ऋक्षवान्नाम कश्चित्तन्नाम्यः पर्वतः, तस्य तटेषु वप्रक्रियां वप्रक्रीडाम् उत्खातकेलिमित्यर्थः । 'उत्खातकेलिः शृङ्गाद्यैर्वप्रक्रीडा निगद्यते' इति शब्दार्णवः । शंसन्

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

कथयन् । सूचयन्नित्यर्थः । युग्मम् ॥

अ०—निशेषविक्षालितधातुना, अपि, नीलोर्ध्वरेखाशबलेन, अश्मविकुण्ठितेन, दन्तद्वयेन, ऋक्षवतः, तटेषु, वप्रक्रियां, शंसन्, 'स बभौ'। वा०—तटेषु वप्रक्रियां शंसता 'तेन बभे' ॥

सुधा—निःशेषविक्षालितधातुना = सम्पूर्णनिर्धौतगैरिकादिधातुना, निमज्जनेन यस्मिन् संसक्ता गैरिकादिधातवः प्रक्षालिता आसन्नित्यर्थः। अपि=युक्तपदार्थे, नीलोर्ध्वरेखाशबलेन = श्यामलोपरितनलेखाचित्रेण, शैलतटप्रहारजनिताभिः श्यामाभिरुपरितनीभिर्लेखाभिश्चित्रवर्णेनेत्यर्थः अश्मविकुण्ठितेन = प्रस्तरकुण्ठीकृतेन । प्रस्तरेषु सन्तताघातेन प्राप्तकुण्ठीभावेनेत्यर्थः। दन्तद्वयेन = दशनद्वितयेन, ऋक्षवतः = तदाख्यपर्वतस्य, तटेषु = भृगुषु, पर्वतप्रान्तभागेष्वित्यर्थः। वप्रक्रियाम् = उत्खातकेलि, शंसन् = व्यक्तीकुर्वन् , 'सः = पूर्वोक्तः, नर्मदात उत्थितो गज इत्यर्थः। बभौ=शुशुभे' 'स बभौ' इति पदद्वयस्य युग्मत्वादग्रिमश्लोकादन्वयोऽत्र कार्यः ॥

स०—निःशेषं यथा तथा विक्षालितो निश्शेषविक्षालितः, स धातुर्येन तद् निश्शेषविक्षालितधातु तेन तथोक्तेन। ऊर्ध्वाश्च ता रेखा इत्यूर्ध्वरेखाः नीलाश्च ता ऊर्ध्वरेखा इति नीलोर्ध्वरेखा ताभिः शबलं तेन तथोक्तेन।

को०—'पाषाणप्रस्तरग्रावोपलाश्मानः शिला दृषत्' इत्यमरः ॥

ता०—स नर्मदात उत्थितो गजः ऋक्षवत्पर्वततटेषु कृतवप्रक्रियासूचिकाभिर्नीलोर्ध्वरेखाभिः संयुतं प्रस्तरेषु सन्तताभिघातेन कुण्ठितं च दन्तद्वयं वहन् शुशुभे ॥

इन्दुः—जल में डूबकर स्नान करने से जिसमें लगे हुए गैरिकादि धातु अच्छी तरह से धुलकर साफ हो गये हैं और पर्वत के तटप्रान्त पर प्रहार करने से ऊपर की ओर काली रेखायें पड़ने से जो चितकाबर रङ्ग के हो रहे हैं, तथा पत्थरों से जिनके नोक घिस गये हैं, ऐसे अपने दाँतों से 'ऋक्षवान्' नामक नर्मदा के पास के पर्वत के तटप्रान्तों में किये हुए उत्खात-केलि अर्थात् पत्थरों को दांतों से उखाड़ने के खेल को सूचित करता हुआ वह नर्मदा से निकला हुआ हाथी सुशोभित होने लगा॥४४॥

तीरमभिलक्ष्याजिगमिषया बृहत्तरङ्गान् करेण विदारयतो गजस्य शोभामुत्प्रेक्षमाणः कविराह—

संहारविक्षेपलघुक्रियेण हस्तेन तीराभिमुखः सशब्दम् ।
बभौ स भिन्दन्बृहतस्तरङ्गान् वार्यर्गलाभङ्ग इव प्रवृत्तः ॥

सञ्जी०—संहारेति। संहारविक्षेपयोः सङ्कोचनप्रसारणयोर्लघुक्रियेण क्षिप्रव्यापारेण। 'लघु क्षिप्रमरं द्रुतम्' इत्यमरः। हस्तेन शुण्डादण्डेन। 'हस्तो नक्षत्रभेदे स्यात्करेभकरयोरपि' इति विश्वः। सशब्दं सघोषं बृहतस्तरङ्गान्भिन्दन् विदारयन्तीराभिमुखः स गजः। वारी गजबन्धनस्थानम् । 'वारी तु गजबन्धनी' इति यादवः । तस्या अर्गला या विष्कम्भस्य भङ्गे भञ्जने प्रवृत्त इव बभौ ॥

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अ९—संहारविक्षेपलघुक्रियेण, हस्तेन, सशब्दं, बृहतः, तरङ्गान्, भिन्दन्, तीराभिमुखः, सः, वार्यर्गलाभङ्गे, प्रवृत्तः, इव बभौ। वा०—भिन्दता तीराभिमुखेन तेन वार्यर्गलाभप्रवृत्तेनेव बभे॥

सुधा—संहारविक्षेपलघुक्रियेण आकुञ्चनप्रसारणद्रुतव्यापारेण, शीघ्रतया सङ्कोचनप्रसारणक्रियाशीलेनेत्यर्थः। हस्तेन=शुण्डादण्डेन, सशब्दं=ध्वनिसहितम्, बृहतः=महतः, तरङ्गान्=ऊर्मीन्, भिन्दन्=विदारयन्, भिन्नान् कुर्वन्नित्यर्थः। तीराभिमुखः=तटाभिमुखः, तीरमभिलक्ष्याजिगमिषयेति भावः। सः=पूर्वोक्तः, नर्मदात उत्थितो गज इत्यर्थः। वार्यर्गलाभङ्गे=गजबन्धनीविष्कम्भखण्डने, प्रवृत्तः=उद्यतः, इव=यथा, बभौ=शुशुभे॥

स०—लध्वी क्रिया यस्य स लघुक्रियः संहारश्च विक्षेपश्च संहारविक्षेपौ तयोर्लघुक्रियः संहारविक्षेपलघुक्रियः तेन तथोक्तेन। तीरस्याभिमुखस्तीराभिमुखः। वार्या अर्गला वार्यर्गला तस्या भङ्गो वार्यर्गलाभङ्गः तस्मिंस्तथोक्ते॥

को०—'भङ्गस्तरङ्ग ऊर्मिर्वा स्त्रियां वीचिरि'ति त्वा०। 'अर्गला त्रिषु कल्लोलेऽन्तर्दण्डवारयोर्न ना' इति मे०॥

ता०—तीरं प्रत्याजिगमिषया तदभिमुखः स्थितः स गजः शुण्डादण्डस्य सङ्कोचनप्रसारणाभ्यां सशब्द यथा स्यात्तथा नर्मदाया महतस्तरङ्गान् विदारयन् गजबन्धनस्थानसम्बन्ध्यर्गलाया भञ्जने यथा प्रवृत्तः स्यात्तथैवाहश्यत॥

इन्दुः—बटोरने और फैलाने में जिसके व्यापार जल्दी २ हो रहे हैं, ऐसे अपने सूंड से शब्द के साथ जैसे हो वैसे बड़े २ तरङ्गों को चीरता हुआ नर्मदा के तीर की ओर मुख किये हुए उस हाथी ने जैसे हाथी बांधने के स्थान को अर्गला के तोड़ने में प्रवृत्त होने से शोभा होती है, वैसी शोभा पाई॥ ४५॥

इत्थं तरङ्गान् भिन्दन् स गजो यत्र तटेऽजसैन्यं स्थितं तत्तटं प्रापदिति वर्णयन् कविराह—

शैलोपमः शैवलमञ्जरीणां जालानि कर्षन्नुरसा स पश्चात्।
पूर्वं तदुत्पीडितवारिराशिः सरित्प्रवाहस्तटमुत्ससर्प॥ ६॥

सञ्जी०—शैलोपम इति। शैलोपमः स गजः शैवलमञ्जरीणां जालानि वृन्दान्युरसा कर्षन्पश्चात्तटमुत्ससर्प। पूर्वं तेन गजेनोत्पीडितो नुन्नो वारिराशिर्यस्य स सरित्प्रवाहस्तटमुत्ससर्प॥

अ०—शैलोपमः, सः, शैवलमञ्जरीणां, जालानि, उरसा, कर्षन्, पश्चात्, तटम्, उत्ससर्प, पूर्वं, तदुत्पीडितवारिराशिः शरित्प्रवाहः, 'तटम्, उत्ससर्प'। वा०—शैलोपमेन तेन कर्षता तट उत्ससृपे, तदुत्पीडितवारिराशिना सरित्प्रवाहेण 'तट उत्ससृपे'

सुधा—शैलोपमः=पर्वतसदृशः महाविशालकाय [illegible] पूर्वोक्तः, गज इत्यर्थः। शैवलमञ्जरीणां=शेवालवल्लरीणां, जालानि=समूहान्, उरसा=वक्षसा, कर्षन्-

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

आकर्षन्, उन्मूल्य निजाग्रे नयन्निति भावः। पश्चात्=अनन्तरं, सरित्प्रवाहप्राप्त्यनन्तरमित्यर्थः। तटं=तीरं, यत्र रघुसैन्यं स्थितं तत्तटमित्यर्थः। उत्ससर्प=प्रापत्, पूर्वं=प्राक्, तत्प्राप्तेः प्रथममित्यर्थः। तदुत्पीडितवारिराशिः=पूर्वोक्तगजप्रेरितजलसमूहः, सरित्प्रवाहः=नदीनिरवच्छिन्नजलप्रवृत्तिः, 'तटमुत्ससर्प' इति पदद्वयस्यात्राप्यन्वयः कार्यः ॥

स०—वारीणां राशिर्वारिराशिः, तेनोत्पीडितस्तदुत्पीडितः स वारिराशिर्यस्य स तदुत्पीडितवारिराशिः ॥

को०—'वल्लरिर्मञ्जरिः स्त्रियौ' इति। 'जालं समूह आनायो गवाक्षजारकावपी' ति। 'जलनीली तु शेवालं शैवलः' चा० ॥

ता०—पर्वताकारः स गजः शैवलवल्लरीणां समूहान् वक्षःस्थलेनाकर्षन् नदीतीरमाजगाम' तेन क्षुभितो नर्मदाजलप्रवाहस्तु तत्प्रागेव तटं प्राप्य तत् प्लावयामास ॥

इन्दु०—पर्वत के समान आकार वाला वह हाथी शेवारके मञ्जरियों के समूहों को छाती से खेंचता हुआ पीछे से तीर पर पहुँचा, और उसके पहिले उस गज से हिलायी गयी है जल की राशि जिसकी ऐसी नदी का प्रवाह तट पर पहुँच गया ॥४६॥

अथ तटं प्राप्य ततस्तत्र स्थितसैन्यगजदर्शनेन तस्य वन्यगजेन्द्रस्य कपोलप्रदेशाभ्यां मदस्रावोऽभूदित्याह—

तस्यैकनागस्य कपोलभित्त्योर्जलावगाहक्षणमात्रशान्ता ।
वन्येतरानेकपदर्शनेन पुनर्दिदीपे मददुर्दिनश्रीः ॥ ४७ ॥

सञ्जी०—तस्येति। तस्यैकनागस्यैकाकिनो गजस्य कपोलभित्त्योर्जलावगाहेन क्षणमात्रं शान्ता निवृत्ता मददुर्दिनश्रीर्मदवर्षलक्ष्मीर्वन्येतरेषां ग्राम्याणामनेकपानां द्विपानां दर्शनेन पुनर्दिदीपे ववृधे ॥

अ०—तस्य एकनागस्य, कपोलभित्त्योः, जलावगाहक्षणमात्रशान्ता, मददुर्दिनश्रीः, वन्येतरानेकपदर्शनेन, पुनः, दिदीपे ॥ वा०—जलावगाहक्षणमात्रशान्तया मददुर्दिनश्रिया पुनर्दिदीपे ॥

सुधा०—तस्य=पूर्वोक्तस्य, एकनागस्य=मुख्यगजस्य, गजेन्द्रस्येत्यर्थः। कोपलभित्त्योः=गण्डप्रदेशयोः, मदोद्भवस्थानयोरिति भावः। जलावगाहक्षणमात्रशान्ता=सलिलनिमज्जनमुहूर्त्तमात्रनिवृत्ता, मददुर्दिनश्रीः=दानवर्षशोभा, वन्येतरानेकपदर्शनेन=अरण्योद्भवभिन्नद्विपावलोकनेन, सेनागजेन्द्रदर्शनेनेत्यर्थः। पुनः भूयः, दिदीपे=अदीप्यत, पुनः पूर्ववद्वेगेन मदस्रावोऽभूदित्यर्थः ॥

स०—क्षणमात्रं शान्ता क्षणमात्रशान्ता जलेऽवगाहो जलावगाहः तेन क्षणमात्रशान्ता जलावगाहक्षणमात्रशान्ता। वने साधवो वन्याः तेभ्य इतरे वन्येतरे ते च तेऽनेकपा इति वन्येतरानेकपाः तेषां दर्शनं वन्येतरानेकपदर्शनं तेन तथोक्तेन। मदस्य दुर्दिनमिति मददुर्दिनं तस्य श्रीर्मदुर्दिनश्रीः ॥

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

को०—'मतङ्गजो गजो नागः कुञ्जरो वारणः करी'। 'इभः स्तम्बेरमः पद्मी'ति चा० ॥

ता०—गजेन्द्रमुख्यस्य तस्य गण्डस्थलयोर्मदजलवर्षशोभा नर्मदासलिलनिमज्जनेन या क्षणमात्रं कथञ्चन शान्ताऽऽसीत् सैव सम्प्रति सैन्यगजेन्द्रदर्शनेन जातप्रतिस्पर्धतया तस्मिन्नेव क्षणे पुनर्द्विगुणिता प्रदीप्ता बभूव।

इन्दु०—हाथियों में मुख्य' उस गज के दोनों गण्डस्थलों में जल में डूब कर नहाने से जो क्षणमात्र के लिये शान्त हो गई थी, वही मद झरने की शोभा जङ्गली हाथियों से भिन्न सेना के हाथियों को देखने से पुनः बढ़ गई. अर्थात् पहले की अपेक्षा अधिक मद झरने लगा ॥ ४७ ॥

सम्प्रति तस्य वन्यगजेन्द्रस्योत्कटं मदगन्धमाघ्राय सेनास्थितगजेन्द्राणामवस्थां दर्शयन् कविराह—

सप्तच्छदक्षीरकटुप्रवाहमसह्यमाघ्राय मदं तदीयम् ।
विलङ्घिताधोरणतीव्रयत्नाः सेनागजेन्द्रा विमुखा बभूवुः ॥ ४८ ॥

सञ्जी०—सप्तच्छदेति। सप्तच्छदस्य वृक्षविशेषस्य क्षीरवत्कटुः सुरभिः प्रवाहः प्रसारो यस्य तम्। 'कटुतिक्तकषायास्तु सौरभ्येऽपि प्रकीर्तिताः' इति यादवः। असह्यं तदीयं मदमाघ्राय, सेनागजेन्द्राः विलङ्घितस्तिरस्कृत आधोरणानां हस्तिपकानां तीव्रो महान् यत्नो यैस्ते तथोक्ताः सन्तः। 'आधोरणा हस्तिपका हस्त्यारोहा निषादिनः' इत्यमरः। विमुखाः पराङ्मुखाः। बभूवुः ॥

अ०—सप्तच्छदक्षीरकटुप्रवाहम् 'अत एव', असह्यं,तदीयं, मदम्, आघ्राय, सेनागजेन्द्राः, विलङ्घिताधोरणतीव्रयत्नाः, 'सन्तः' विमुखाः, बभूवुः ॥ वा०—सेनागजेन्द्रैर्विलङ्घिताधोरणतीव्रयत्नैः 'सद्भिः' विमुखैर्बभूवे ॥

सुधा—सप्तच्छदक्षीरकटुप्रवाहं = विषमच्छददुग्धवत्सुरभिप्रसारम्, अत एवेति शेषः। असह्यं = सोढुमशक्यम्, आघ्राणानर्हमित्यर्थः। तदीयं = तत्सम्बन्धिनं, वन्यगजेन्द्रस्येत्यर्थः। मदं = दानं, मदगन्धमित्यर्थः। आघ्राय = घ्राणेन्द्रियविषयीकृत्य, घ्राणेन्द्रियेण गन्धमुपादायेत्यर्थः। सेनागजेन्द्राः = सैन्यकरिवराः, विलङ्घिताधोरणतीव्रयत्नाः = अतिक्रान्तहस्तिपकात्यर्थप्रयत्नाः, पलायनान्निवर्त्तयितुकामतया हस्तिपकैरित्यर्थं कृतानङ्कुशताडनरूपप्रयासानतिक्रम्य विफलयन्त इत्यर्थः। सन्त इति शेषः। विमुखाः = पराङ्मुखाः, स्वस्थानादितस्ततः पलायमाना इत्यर्थः। बभूवुः = आसन् ॥

स०—सप्तच्छदस्य क्षीरं सप्तच्छदक्षीरं तद्वत्कटुः सप्तच्छदक्षीरकटुः स प्रवाहो यस्य स सप्तच्छदक्षीरकटुप्रवाहः तं तथोक्तम्। तस्यायं तदीयः तं तदीयम्। तीव्रश्चासौ यत्नस्तीव्रयत्नः आधोरणानां तीव्रयत्न आधोरणतीव्रयत्नः विलङ्घित आधोरणतीव्रयत्नो यैस्ते तथोक्ताः। सेनाया गजेन्द्राः सेनागजेन्द्राः ॥

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

को०—'सप्तपर्णो विशालत्वक् शारदो विषमच्छदः' इति। 'प्रवाहस्तु प्रवृत्तिः

स्यात्' इति चा० । 'तीव्रं जटूष्णात्यर्थेषु' इत्य० ॥

ता०—युवराजस्य रघुकुमारस्य सेनागजेन्द्राः सप्तपर्णतरुक्षीरवत् तीव्रसौरभ्यशालिनं तस्य वन्यगजेन्द्रस्य मदमाघ्राय तमसहमाना उन्मत्ता इव स्वस्थानाद्बन्धनान्यवभज्येतस्ततः पलायन्ते स्म, हस्तिपका अपि सन्तताङ्कुशताडनादिभिरुपायैस्तान् निवारयितुं किञ्चिन्मात्रमपि समर्था न बभुवुः ॥

इन्दुः—सप्तपर्णनामक वृक्ष के दुग्ध की भाँति जिसकी सुगन्धि फैल रही थी, इसी से असह्य उस जङ्गली हाथी के मद को सूंघ कर सेना के सभी गजेन्द्र अपने २ महावतों के किए हुए अत्यन्त अङ्कुश से मारने आदि उपायों को विफल करते हुए मुंह फेर कर भागने लगे ॥ ४८ ॥

अथ स वन्यो गजेन्द्रः सैन्यनिवेशं प्रविश्य तत्रत्यान् सर्वानेव समुद्विग्नमनसः कृतवानित्याह—

स छिन्नबन्धद्रुतयुग्यशून्यं भग्नाक्षपर्यस्तरथं क्षणेन ।
रामापरित्राणविहस्तयोधं सेनानिवेशं तुमुलं चकार ॥ ४९ ॥

सञ्जी०—स इति । स गजः । छिन्ना बन्धा यैस्ते छिन्नबन्धाः द्रुताः पलायिताः, युगं वहन्तीति युग्या वाहा यस्मिन्सः, स चासौ शून्यश्च तम् । भग्ना अक्षा रथावयवदारुविशेषाः । 'अक्षो रथस्यावयवे पाशकेऽप्यक्षमिन्द्रियम्' इति शाश्वतः । येषान्ते भग्नाक्षा अत एव पर्यन्ताः पतिता रथा यस्मिंस्तम् । रामाणां स्त्रीणां परित्राणे संरक्षणे विहस्ता व्याकुलाः । 'विहस्याकुलौ समौ' इत्यमरः । योधा यस्मिंस्तं सेनानिवेशं शिविरं क्षणेन तुमुलं सङ्कुलं चकार ॥

अ०—सः, छिन्नबन्धद्रुतयुग्यशून्यं, भग्नाक्षपर्यस्तरथं, रामापरित्राणविहस्तयोधं, सेनानिवेशं, क्षणेन, तुमुलं, चकार ॥ वा०—तेन छिन्नबन्धद्रुतयुग्यशून्यो भग्नाक्षपर्यस्तरथो रामापरित्राणविहस्तयोधः सेनानिवेशः क्षणेन तुमुलं चक्रे ॥

सुधा—सः=पूर्वोक्तः, वन्यगज इत्यर्थः । छिन्नबन्धद्रुतयुग्यशून्यं=भग्नबन्धनश्रृङ्खलाऽपक्रान्तयानहस्त्यश्वादिरहितं, भग्नबन्धतया पलायितैर्हस्त्यश्वादिभिः शून्यमित्यर्थः । भग्नाक्षपर्यस्तरथं—छिन्नरथावयवविशेषपतितस्यन्दनं, भग्नाक्षतया पतितरथयुक्तमित्यर्थः । रामापरित्राणविहस्तयोधं=स्त्रीरक्षणव्याकुलभटं, स्त्रीणां रक्षणे व्याकुलैर्भटैः संयुक्तमित्यर्थः । सेनानिवेशं=सैन्यशिविरं, क्षणेन=क्षणमात्रेण, स्वल्पकालेनेत्यर्थः । तुमुलं=सङ्कुलं, व्याकुलमित्यर्थः । चकार=कृतवान् ॥

स०—युगं वहन्तीति युग्याः छिन्ना बन्धा यैस्ते छिन्नबन्धाः ते च ते द्रुता इति छिन्नबन्धद्रुताः ते युग्मा यस्मिन् स छिन्नबन्धद्रुतयुग्यः स चासौ शून्य इति छिन्नबन्धद्रुतयुग्यशून्यः तं तथोक्तम् । भग्ना अक्षा येषान्ते भग्नाक्षाः ते च ते पर्यस्ताः भग्नाक्षपर्यस्ताः ते रथा यस्मिन् स भग्नाक्षपर्यस्तरथः तं तथोक्तम् । रामाणां परित्राणं रामापरित्राणं तस्मिन् विहस्ता रामापरित्राणविहस्ताः ते योधाः यस्मिन् स रामापरि-

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

त्राणविहस्तयोधः तं तथोक्तम् । सेनाया निवेशः सेनानिवेशः तं तथोक्तम् ॥

को०—'क्षणो व्यापारशून्यत्वमुहूर्त्तोत्सवपर्वसु' इति रुद्रः। 'रामा हिङ्गुलिनी स्त्रियोः' इति है०। 'तुमुलं व्याकुले रणे' इति त्रिकाण्डशेषः ॥

ता०—सेनानिवेशं वन्यगजे प्रविष्टे सति तद्भयात् स्वस्वबन्धनानि भङ्क्त्वा सर्वेषां वाहनानां पलायनेन, भग्नाक्षतया रथाणां पतनेन, स्त्रीणां परित्राणे योधानां व्याकुलतया क्षणमात्रेणैव सर्वः सेनानिवेशो व्याकुलो बभूव ॥

इन्दुः—उस जङ्गली हाथी ने, अपने २ बन्धनों को तोड़कर भागे हुए वाहनों (हाथी घोड़े वगैरह) से जो शून्य हो रहा है, धुरा के टूट जाने से गिरे हुए रथ जिसमें पड़े हुए हैं, स्त्रियों की रक्षा करने में योधा लोग जिसमें व्याकुल हो रहे हैं, ऐसे सेना के निवासस्थान को क्षणमात्र में व्याकुल कर दिया ॥ ४९ ॥

अथ वन्यगजकृतां सेनाशिबिरव्याकुलतां श्रुत्वा तं गजं निवर्तयितुकामो युवराजोऽजो धनुरीषदाकृष्य कुम्भस्थले बाणेन जघानेत्याह—

तमापतन्तं नृपतेरवध्यो वन्यः करीति श्रुतवान्कुमारः ।
निवर्तयिष्यन्विशिखेन कुम्भे जघान नात्यायतकृष्टशार्ङ्गः ॥ ५० ॥

सञ्जी०—तमिति । नृपते राज्ञो वन्यः कर्यवध्य इति श्रुतवाञ्शास्त्राज्ज्ञातवान्कुमार आपतन्तमभिधावन्तं तं गजं निवर्तयिष्यन्न तु प्रहरिष्यन् । अत एव नात्यायतमनतिदीर्घं यथा स्यात्तथा (नञर्थस्य न शब्दस्य सुप्सुपेति समासः)। कृष्टशार्ङ्ग ईषदाकृष्टचापः सन्विशिखेन बाणेन कुम्भे जघान। अत्र चाक्षुषः—(लक्ष्मीकामो युद्धादन्यत्र करिवधं न कुर्यात्। इयं हि श्रीर्यत् करिणः) इति। अत एव (युद्धादन्यत्र) इति द्योतनार्थमेव वन्यग्रहणं कृतम् ॥

अ०—नृपतेः, वन्यः, अवध्यः, इति, श्रुतवान् , कुमारः, आपतन्तं, तं, निवर्तयिष्यन्, अत एव, नात्यायतकृष्टशार्ङ्गः, 'सन्' विशिखेन, कुम्भे, जघान। वा०—इति श्रुतवता तं निवर्तयिष्यता नात्यायतकृष्टशार्ङ्गेण 'सता' जघ्ने।

सुधा—नृपतेः = राज्ञः, वन्यः=वनोद्भवः, करी = गजः, अवध्यः=वधानर्हः, इति= इत्याकारकं, शास्त्रवचनमित्यर्थः। श्रुतवान् = अधिगतवान्, शास्त्राज्ज्ञातवानित्यर्थः। कुमार = युवराजः, अज इत्यर्थः। आपतन्तं = स्वाभिमुखमायान्तं, तं=पूर्वोक्तं, गजमित्यर्थः। निवर्त्तयिष्यन् = परावर्तयिष्यन् , न तु मारयिष्यन्नित्यर्थः। अत एवेति शेषः। नात्यायतकृष्टशार्ङ्गः=अनतिदूरसमाकृष्टधनुः, स्वल्पं धनुराकृष्येत्यर्थः। सन्निति शेषः। विशिखेन=शरेण, कुम्भे=गजशिरःपिण्डे, जघान=हतवान्।

स०—न वध्य इत्यवध्यः। निवर्तयिष्यतीति निवर्तयिष्यन्, शृङ्गस्य विकारः शार्ङ्ग न अत्यायतमिति नात्यायतं नात्यायतं यथा स्यात्तथा कृष्टं नात्यायतकृष्टं तद् शार्ङ्गं येन स नात्यायतकृष्टशार्ङ्गः ॥

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

को०—'कुम्भौ तु पिण्डौ शिरसः' इति। 'कुम्भौ घटेभमूर्द्धांशौ' इति चा०।

ता०—'वनोद्भवो गजोऽवध्यः' इति शास्त्राज्जानन् युवराजोऽजोऽभिधावन्तं तं गजं निवर्तयितुकाम एव न तु हन्तुकामः सन् धनुरीषदाकृष्य शरेण तस्य कुम्भस्थले प्रहारं कृतवान् ।

इन्दुः—'राजा के लिये जङ्गली हाथी को मारना उचित नहीं है' इस बात के जानने वाले युवराज अज के समान दौड़कर आते हुए उस हाथी को भगाने की इच्छा से न कि मार डालने की इच्छा से, थोड़ा-सा धनुष को खींचकर छोड़े हुए बाण से कुम्भस्थल में मारा ॥ ५० ॥

अथ बाणेन विद्धमात्र एव स गजरूपं विहाय सद्यः खेचरवपुः प्रापेत्याह—

स विद्धमात्रः किल नागरूपमुत्सृज्य तद्विस्मितसैन्यदृष्टः ।
स्फुरत्प्रभामण्डलमध्यवर्ति कान्तं वपुर्व्योमचरं प्रपेदे ॥ ५१ ॥

सञ्जी०—स इति । स गजो विद्धमात्रस्ताडितमात्रः किल न तु प्रहतस्तथाऽपि नागरूपं गजशरीरमुत्सृज्य । तेन वृत्तान्तेन विस्मितैस्तद्विस्मितैः सैन्यैर्दृष्टः सन् । स्फुरतः प्रभामण्डलस्य मध्यवर्ति कान्तं मनोहरं व्योमचरं वपुः प्रपेदे प्राप ॥

अ०—सः, विद्धमात्रः, किल, नागरूपम्, उत्सृज्य, तद्विस्मितसैन्यदृष्टः, 'सन्' स्फुरत्प्रभामण्डलमध्यवर्ति, कान्तं, व्योमचरं, वपुः, प्रपेदे । वा०—तेन विद्धमात्रेण तद्विस्मितसैन्यदृष्टेन 'सता' वपुः प्रपेदे ॥

सुधा—सः = पूर्वोक्तः, वन्यगज इत्यर्थः । विद्धमात्रः = बाधितमात्रः, ताडितमात्र इत्यर्थः । किल = वार्त्तायां, नागरूपं = गजवपुः, उत्सृज्य = त्यक्त्वा, तद्विस्मितसैन्यदृष्टः = पूर्वोक्तवृत्तान्तविस्मयापन्नसैनिकावलोकितः, सद्यःशरीरत्यागरूपव्यापारेण साश्चर्यसैनिकैरवलोकित इत्यर्थः । सन्निति शेषः । स्फुरत्प्रभामण्डलमध्यवर्त्ति = देदीप्यमानदीप्तिनिवहाभ्यन्तरस्थायि, कान्तं = मनोरमं, व्योमचरम् = आकाशगामि, गान्धर्वमिति भावः । वपुः = शरीरं, प्रपेदे = प्राप ।

स०—विद्ध एव विद्धमात्रः । नागस्य रूपमिति नागरूपम् तत्तथोक्तम् । तेन विस्मितास्तद्विस्मिताः ते च ते सैन्यास्तद्विस्मितसैन्याः तैर्दृष्टस्तद्विस्मितसैन्यदृष्टः । मध्ये वर्तितुं शीलमस्येति मध्यवर्त्ति प्रभाणां मण्डलमिति प्रभामण्डलं स्फुरच्च तत्प्रभामण्डलं स्फुरत्प्रभामण्डलं तस्य मध्यवर्तीति स्फुरत्प्रभामण्डलमध्यवर्ति तत्तथोक्तम् । व्योम्नि चरतीति व्योमचरम् तत्तथोक्तम् ।

को०—'विद्धं स्याद्वेधिते क्षिप्ते सदृशे बाधिते त्रिषु'ति । 'स्यान्मण्डलं द्वादशराजके च देशे च बिम्बे च कदम्बके च । कुष्ठप्रभेदेऽप्युपसूर्यकेऽपि भुजङ्गभेदे शुनि मण्डलः स्यात्' इति च वि० ।

ता०—स वन्यगजोऽजबाणेन ताडितमात्र एव स्वं गजदेहं विहाय गगनसञ्चरणशीलं सुन्दरं गान्धर्वं शरीरं प्राप्तवानिदं सर्वे सैनिकाः परमाश्चर्ययुक्ता बभूवुः ।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

इन्दुः—उस जङ्गली हाथी ने बाण से बिंधाते ही अपने हाथी के रूप को छोड़

कर इस घटना के होने से आश्चर्य के साथ सैनिकों से देखा जाता हुआ, चमकते हुए प्रभामण्डल के मध्य में स्थित, सुन्दर, आकाश में चलने वाला गन्धर्व का शरीर धारण कर लिया ॥ ५१ ॥

अथ स कल्पवृक्षकुसुमान्यजस्योपरि विकीर्य तमुवाचेत्याह—

अथ प्रभावोपनतैः कुमारं कल्पद्रुमोत्थैरवकीर्य पुष्पैः ।
उवाच वाग्मी दशनप्रभाभिः संवर्धितोरःस्थलतारहारः ॥ ५२ ॥

सञ्जी०—अथेति । अथ प्रभावेणोपनतैः प्राप्तैः कल्पद्रुमोत्पन्नैः पुष्पैः कुमारमजमवकीर्याभिवृष्य दशनप्रभाभिर्दन्तकान्तिभिः संवर्धिता उरःस्थले ये तारहाराः स्थूला मुक्ताहारास्ते येन स तथोक्तः । वाचोऽस्य सन्तीति वाग्मी वक्ता । 'वाचो ग्मिनिः' इति ग्मिनिप्रत्ययः । स पुरुष उवाच ।

अ०—अथ, प्रभावोपनतैः, कल्पद्रुमोत्थैः, पुष्पैः, कुमारम् , अवकीर्य, दशनप्रभाभिः, संवर्धितोरःस्थलतारहारः, वाग्मी, 'सः, पुरुषः' उवाच । वा०—कुमारो संवर्धितोरःस्थलतारहारेण वाग्मिना 'तेन पुरुषेण' ऊचे ॥

सुधा—अथ = अनन्तरं, दिव्यवपुःप्राप्त्यनन्तरमित्यर्थः । प्रभवोपनतैः=सामर्थ्यप्राप्तैः, दिव्यवपुःप्राप्तिसामर्थ्येन लब्धैरित्यर्थः । कल्पद्रुमोत्थैः=कल्पतरुसमुत्पन्नैः, पुष्पैः = कुसुमैः, कुमारं=युवराजम् , अजमित्यर्थः । अवकीर्य=अभिवर्षणं कृत्वा, दशनप्रभाभिः = दन्तदीप्तिभिः, संवर्धितोरःस्थलतारहारः = समेधितवक्षःप्रदेशस्थनिर्मलमुक्ताऽवलिः, वक्षःस्थतलस्थितस्थूलशुद्धमुक्ताहारकान्ति वर्धयन्नित्यर्थः । वाग्मी वाचोयुक्तिपटुः, प्रशस्तवचोभाषीत्यर्थः । 'स पुरुषः' इति शेषः । उवाच=अवोचत् ।

स०—प्रभावेणोपनतानि प्रभावोपनतानि तैस्तथोक्तैः । कल्पद्रुमादुत्थानि कल्पद्रुमोत्थानि तैस्तथोक्तैः । प्रशस्ता वाचः सन्त्यस्येति वाग्मी । दशनानां प्रभा दशनप्रभाः ताभिस्तथोक्ताभिः । ताराश्च ते हारास्तारहाराः उरःस्थले तारहारा उरःस्थलतारहाराः, संवर्धिता उरःस्थलतारहारा यस्य स तथोक्तः ॥

को०—'वाचोयुक्तिपटुर्वाग्मी'त्यमरः । 'तारो वानरभिन्मुक्ताविशुद्धयोः शुद्धमौक्तिके' इति । 'हारो मुक्तावली युधी'ति च मे० ।

ता०—दिव्यशरीरप्राप्त्यनन्तरं स पुरुषः स्वप्रभावेण प्राप्तैः कल्पवृक्षकुसुमैः कुमारमजमभिवृष्य प्रसन्नवदनतया स्मयमानः सन् वक्ष्यमाणप्रकारेणोवाच ।

इन्दुः—उसके (दिव्यशरीर प्राप्त होने के) बाद अपने प्रभाव से प्राप्त कल्पवृक्ष के पुष्पों की युवराज अज के ऊपर वर्षा करके दाँतों की कान्ति से छाती पर लटकती हुई शुद्ध बड़े २ मोतियों की मालाओं की कान्ति को बढ़ाता हुआ अच्छे वचनों को बोलने वाला वह दिव्य पुरुष बोला ॥ ५२ ॥

CC-0 Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अथ स्वकीयपूर्णपरिचयं दत्वा करिशरीरप्राप्तिकारणं मतङ्गशापमेव निर्दिशन्नाह—

मतङ्गशापादवलेपमूलादवाप्तवानस्मि मतङ्गजत्वम् ।

अवेहि गन्धर्वपतेस्तनूजं प्रियंवदं मां प्रियदर्शनस्य ॥ ५३ ॥

सञ्जी०—मतङ्गशापादिति । अवलेपमूलाद्गर्वहेतुकात् । 'अवलेपस्तु गर्वे स्याल्लेपने क्षेपणेऽपि च' इति विश्वः । मतङ्गस्य मुनेः शापान्मतङ्गजत्वमवाप्तवानस्मि । मां प्रियदर्शनस्य प्रियदर्शनाख्यस्य गन्धर्वपतेर्गन्धर्वराजस्य तनूजं पुत्रम् । 'स्त्रियां मूर्तिस्तनुस्तनूः' इत्यमरः । 'तन्वादेर्वा' इत्यूङिति केचित् । प्रियवदं प्रियंवदाख्यमवेहि जानीहि । प्रियं वदतीति प्रियंवदः । 'प्रियवशे वदः खच्' इति खच्प्रत्ययः ॥

अ०—अवलेपमूलाद्, मतङ्गशापाद्, मतङ्गजत्वम्, अवाप्तवान्, अस्मि, मां, प्रियदर्शनस्य, गन्धर्वपतेः, तनूजं, प्रियंवदम्' अवेहि । वा०—अवाप्तवता मया भूयते, अहं तनूजः प्रियवदः 'त्वया' अवेयताम् ।

.सुधा—अवलेपमूलाद् = गर्वाद्याद्, अहङ्कारनिमित्तकादित्यर्थः । मतङ्गशापात् = तन्नामकमहर्षिशापाद्, मतङ्गजत्वं = करिभावम्, अवाप्तवान् = लब्धवान्, अस्मि = अहम्, अस्मदर्थेऽव्ययमेतत् । मां = पुरःस्थितं, गजभावमुत्सृज्य प्राप्तदिव्यरूपमित्यर्थः । प्रियदर्शनस्य = तदाख्यस्य, गन्धर्वपतेः = दिव्यगायनराजस्य, विश्वावसुप्रभृतिगन्धर्वाणामधीशस्येत्यर्थः । तनूजं = पुत्रं, प्रियंवदं = तन्नामकं, गन्धर्वमित्यर्थः । अवेहि = विद्धि, त्वमिति शेषः ।

स०—माद्यत्यनेनेति मतङ्गः तस्य शापो मतङ्गशापः तस्मात्तथोक्तात् । अवलेप एव मूलं यस्य सोऽवलेपमूलः तस्मात्तथोक्तात् । मतङ्गाज्जातो मतङ्गजः तस्य भावो मतङ्गजत्वम् तत्तथोक्तम् । गन्धमर्वन्तीति गन्धर्वाः तेषां पतिर्गन्धर्वपतिः तस्य गन्धर्वपतेः । प्रियं वदतीति प्रियंवदः तं प्रियंवदम् । प्रियं दर्शनं यस्य स प्रियदर्शनः तस्य प्रियदर्शनस्य ।

को०—'मूलमाद्ये शिफाभयोरि' त्य० । 'गन्धर्वस्तु नभश्चरे । पुंस्कोकिले गायने च मृगभेदे तुरङ्गमे । अन्तराभावदेहे चे' ति है० ।

ता०—एकदा किल तपस्यतो मद्दृष्टिपथगतस्यापि महर्षेर्मतङ्गस्याभिवन्दनादिकं गर्वाद् नाहं कृतवानतः सञ्जातरुषा महर्षिणा 'त्वं गजत्वं प्राप्नुहि' इति शप्तस्ततो गजत्वं प्राप्तं मां प्रियदर्शनाख्यस्य गन्धर्वराजस्य पुत्रं प्रियंवदनामानं गन्धर्वराजकुमारं त्वं जानीहि ॥

इन्दु :—गर्व करना ही जिसका कारण था, ऐसे मतङ्ग ऋषि के शाप से हाथी के शरीर को जो मैंने प्राप्त किया था, वही मुझे प्रियदर्शन नामक गन्धर्वराज का पुत्र प्रियंवद नामक गन्धर्वराजकुमार आप जानें ॥ ५३ ॥

अथ शापप्रदानानन्तरं मत्कृतप्रणतिपूर्वकस्तवेन शान्तिं लभमानस्य महर्षेर्मयि पुनः कृपाऽभूदित्याह—

स चानुनीतः प्रणतेन पश्चान्मया महर्षिर्मृदुतामगच्छत् ।
उष्णत्वमग्न्यातपसंप्रयोगाच्छैत्यं हि यत्सा प्रकृतिर्जलस्य ॥ ५४ ॥

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection.

सञ्जी०—स इति। महर्षिश्च प्रणतेन मयाऽनुनीतः सन्पश्चान्मृदुतां शान्तिमगच्छत्। तथाहि। जलस्योष्णत्वमग्नेरातपस्य वा संप्रयोगात्संपर्कात् न तु प्रकृत्योष्णत्वम्। यच्छैत्यं सा प्रकृतिः स्वभावः। विधेयप्राधान्यात्सेति स्त्रीलिङ्गनिर्देशः। महर्षीणां शान्तिरेव स्वभावो न क्रोध इत्यर्थः॥

अ०—सः, महर्षिः च, प्रणतेन, मया, अनुनीतः, 'सन्' पश्चाद्, मृदुताम्, अगच्छत्, हि, जलस्य, उष्णत्वम्, अग्न्यातपसम्प्रयोगाद्, यद्, शैत्यं, सा, प्रकृतिः॥

वा०—तेन महर्षिणा च मयाऽनुनीतेन 'सता' पश्चान्मृदुताऽगम्यत हि जलस्योष्णत्वेनाग्न्यातपसम्प्रयोगाद् 'भूयते' तेन शैत्येन 'भूयते' तथा प्रकृत्या 'भूयते'॥

सुधा—सः = पूर्वोक्तः, महर्षिः=अतिसत्यवचाः, मतङ्ग इत्यर्थः। च=समुच्चयेऽर्थे, प्रणतेन=आनतेन, पादयोर्निपत्य प्रणतिं कुर्वतेत्यर्थः। मया=प्रियंवदेन, अनुनीतः=प्रार्थितः क्रोधशान्त्यर्थमित्यर्थः। सन्निति शेषः। पश्चाद्=अनन्तरं, अनुनयकरणानन्तरमित्यर्थः। मृदुतां=कोमलतां, शान्तिमित्यर्थः। अगच्छत्=प्राप्नोत्, हि=यतः, जलस्य=सलिलस्य, उष्णत्वम्=अशीतत्वं शीतस्पर्शराहित्यमित्यर्थः। अग्न्यातपसंप्रयोगाद्=वह्न्यर्कप्रभासंयोगाद्। भवतीति शेषः। न तु स्वभावत उष्णस्पर्शवत्त्वमिति भावः। यत् = प्रसिद्धं, शैत्यं = शीतलत्वं, सा=प्रसिद्धा, शीतलस्वरूपेत्यर्थः। प्रकृतिः = स्वभावः, अस्तीति शेषः॥

स०—मृदोर्भावो मृदुता तां मृदुताम्। उष्णस्य भाव उष्णत्वं अग्निश्चातपश्चेत्यग्न्यातपौ तयोः संप्रयोगोऽग्न्यातपसंप्रयोगस्तस्मात्तथोक्तात्। शीतस्य भावः शैत्यम्॥

को०—'मृदु चातीक्ष्णकोमलौ' इत्य०। 'उष्णो ग्रीष्मे पुमान् दक्षाशीतयोरन्यलिङ्गकः' इति मे०। 'प्रकृतिर्गुणसाम्ये स्यादमात्यादिस्वभावयोः। योनौ लिङ्गे पौरवर्गे' इति वि०॥

ता०—इत्थं महर्षिणा शप्तोऽहं विविधस्तुतिवाक्यैरनुनीतवांस्ततः शान्तो भूत्वा दयालुः स मयि कृपामकरोद्, यतो जलस्य यथा शैत्यं स्वाभाविकं किन्तूष्णत्वं वह्निसूर्यातपयोः सम्पर्कादेव भवति, तथैव महात्मनामपि प्रकृतिः शान्तैव क्रोधशीलता तु कारणवशादेव भवति॥

इन्दुः—और उन महर्षि मतङ्ग के पैरों पर गिरे हुए मैंने उनसे क्रोध शान्त करने की प्रार्थना की, बाद उन्होंने क्रोध को शान्त किया, क्योंकि-जल का जो गरम होना है, वह अग्नि और सूर्य के किरणों के सन्वन्ध से है और जो शीतलता है वह उसकी प्रकृति है, अर्थात् जैसे जल स्वाभाविक शीतल ही है, कारणवश गरम हो जाता है, उसी भांति महात्मा लोग स्वाभाविक शान्त होते हैं, कारणवश क्रुद्ध हो जाते हैं॥५४॥

अथ परचात् प्रसन्नेन महर्षिणा निर्दिष्टं शापान्तसमयं कथयन्नाह—

इक्ष्वाकुवंशप्रभवो यदा ते भेत्स्यत्यजः कुम्भमयोमुखेन।
संयोक्ष्यसे स्वेन वपुर्महिम्ना तदेत्यवोचत्स तपोनिधिर्माम्॥५५॥

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

सञ्जी०—इक्ष्वाकुवंशेति । इक्ष्वाकुवंशः प्रभवो यस्य सोऽजो यदा ते कुम्भमयोमुखेन लोहाग्रेण शरेण भेत्स्यति विदारयिष्यति तदा स्वेन वपुषो महिम्ना पुनः संयोक्ष्यसे संगंस्यस इति स तपोनिधिर्मामवोचत् ॥

अ०—इक्ष्वाकुवंशप्रभवः, अजः, यदा, ते, कुम्भम्, अयोमुखेन, शरेण, भेत्स्यति, तदा, स्वेन, वपुर्महिम्ना, पुनः, संयोक्ष्यसे, इति, सः, तपोनिधिः, माम्, अवोचत् ॥ संयोक्ष्यते, इति तेन तपोनिधिनाऽहमबोचि ॥

सुधा—इक्ष्वाकुवंशप्रभवः=इक्ष्वाकुनामराजर्षिकुलजातः, सूर्यवंश्य इत्यर्थः। अजः=अजनामकः, रघुसूनुरित्यर्थः। यदा=यस्मिन् काले, ते=तव, गजत्वं गतस्य प्रियंवदस्येत्यर्थः । कुम्भं=मूर्द्धानं, शिरःपिण्डमित्यर्थः । अयोमुखेन=लोहमयफलकेन, शरेण=वाणेन, भेत्स्यति=ताडयिस्यति, विदारणं करिष्यतीत्यर्थः, तदा=तस्मिन् काले, स्वेन=स्वकीयेन, वपुर्महिम्ना = शरीरमहत्वेन, पुनः=भूयः, संयोक्ष्यसे=सम्प्राप्स्यसे, संगतो भविष्यसीत्यर्थः । त्वमिति शेषः । इति = इत्याकारकं, वच इत्यर्थः । सः = पूर्वोक्तः, तपोनिधिः—धर्मशेवधिः, मतङ्ग इत्यर्थः । मां = प्रियंवदम् , अवोचत् = अब्रवीत् ॥

स०—इक्ष्वाकोर्वंशः इक्ष्वाकुवंश स प्रभवो यस्य स इक्ष्वाकुवंशप्रभवः । अयो मुखे यस्य सोऽयोमुखः तेनायोमुखेन । वपुषो महिमा वपुर्महिमा तेन तथोक्तेन । तपसां निधिस्तपोनिधिः ॥

को०—'वंशो वेणौ कुले वर्गे' इति वि० । 'कुम्भौ तु पिण्डो शिरसः' इत्यमरः ॥

ता०—मत्प्रार्थनया प्रसन्नो मुनिर्मतङ्गः, 'इक्ष्वाकुवंश्यो रघुतनयोऽजो यदा ते कुम्भस्थलं लोहमयफलकेन बाणेन भेत्स्यति, तदा त्वं पुनर्गन्धर्वशरीरं प्राप्स्यसी'ति शापान्तसमयं निर्दिष्टवान् ॥

इन्दु—इक्ष्वाकु-वंश में उत्पन्न, अज नामक राजकुमार जब तुम्हारे कुम्भ-स्थल को लोह का बना हुआ है अग्रभाग जिसका ऐसे बाण से बेधेंगे, तब अपने शरीर सम्बन्धी गौरव से फिर तुम युक्त होओगे ऐसा उन तपोनिधि महर्षि मतङ्ग ने मुझसे कहा था ॥ ५५ ॥

सम्प्रति त्वयाऽहं शापान्मोचितोऽस्मीत्यतस्तेऽपि प्रत्युपकारं चिकिर्षुरस्मीत्याह—

संमोचितः सत्त्ववता त्वयाऽहं शापाच्चिरप्रार्थितदर्शनेन ।
प्रतिप्रियं चेद्भवतो न कुर्यां यथा हि मे स्यात्स्वपदोपलब्धिः ॥५६॥

सञ्जी०—संमोचित इति । चिरं प्रार्थितं दर्शनं यस्य तेन सत्त्ववता बलवता त्वयाऽहं शापात्संमोचितो मोक्षं प्रापितः । भवतः प्रीतिप्रियं प्रत्युपकारं न कुर्यां चेन्मे स्वपदोपलब्धिः स्वस्थानाप्तिः।,'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यमरः। वृथा स्याद्धि । तदुक्तम्-(प्रतिकर्तुमशक्तस्य जीवितान्मरणं वरम्') इति ॥

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अ०—चिरप्रार्थितदर्शनेन, सत्त्ववता, त्वया, अहं, शापात् , सम्मोचितः, भवतः,

प्रतिप्रियं न, कुर्यां, चेद्, मे, स्वपदोपलब्धिः, वृथा, स्यात्, हि ॥ वा—चिरप्रार्थितदर्शनः सत्त्ववाँस्त्वं मां शापात् सम्मोचितवान्, भवतः प्रतिप्रियो न मया क्रियेत चेन्मे स्वपदोपलब्ध्या वृथा भूयेत हि ॥

सुधा—चिरप्रार्थितदर्शनेन = बहुकालवाञ्छितावलोकनेन, बहोः कालात्प्रतीक्षमाणदर्शनेनेत्यर्थः। सत्त्ववता = बलवता, त्वया=भवता, अहं = प्रियंवदः, शापात्= मतङ्गजस्वरूपात्, संमोचितः =मुक्तिं गमितः, भवतः = तव, भजस्येत्यर्थः। प्रतिप्रियं= प्रत्युपकारं, न=न हि, कुर्यां=सम्पादयेयं, चेद्=यदि, तर्हीति शेषः। मे=मम, स्वपदोपलब्धिः=निजस्थानावाप्तिः, वृथा=व्यर्थं, स्यात्=भवेद्, हि = अवधारणेऽर्थे ॥

स०—सत्त्वमस्यास्तीति सत्त्ववान् तेन सत्त्ववता। चिरं प्रार्थितं चिरप्रार्थितं चिरप्रार्थितं दर्शनं यस्य स चिरप्रार्थितदर्शनः तेन तथोक्तेन। स्वस्य पदं स्वपदं तस्योपलब्धिः।

को०—'शापः शपथ आक्रोशे' इत्यने० ॥

ता०—तदा प्रभृत्येवाहं भवतः शुभागमनं प्रतीक्षमाणोऽत्र तिष्ठामि, अद्य भवता बाणेन भित्त्वा शापान्मुक्तिं प्रापितोऽस्मीति मे सुदिवसः, यदीत्थमुपकुर्वतस्ते प्रत्युपकारं न कुर्यां, तर्हि मे पुनः स्वगन्धर्वरूपप्राप्तिरेव वृथा स्यात्, यत उपकारिणः प्रत्युपकारं कर्त्तुमसमर्थस्य पुरुषस्य जीवितापेक्षया मरणमेव वरमतस्ते प्रत्युपकारं चिकीर्षुरस्मि ॥

इन्दुः—बहुत दिनों से जिसका दर्शन अभीष्ट हो रहा था, ऐसे बलवान् आपने मुझे शाप से छुड़ाया, अर्थात् गजयोनि छुड़ा कर गन्धर्वशरीर प्राप्त कराया, अतः आप का प्रत्युपकार यदि मैं न करूं तो मेरा अपने स्थान (गन्धर्व-लोक) को प्राप्त करना ही वृथा होगा इस में कोई सन्देह नहीं है ॥ ५६ ॥

अथ प्रत्युपचिकीर्षया प्रियंवदोऽजाय स्वकीयं संमोहनं नामास्त्रं दातुं स्वेच्छां प्रकटीकुर्वन्नाह—

संमोहनं नाम सखे ! ममास्त्रं प्रयोगसंहारविभक्तमन्त्रम् !
गान्धर्वमादत्स्व यतः प्रयोक्तुर्न चारिहिंसा विजयश्च हस्ते ॥ ५७ ॥

सञ्जी०—संमोहनमिति। हे सखे ! सखिशब्देन समप्राणतोक्ता। यथोक्तम्—(अत्यागसहनो बन्धुः सदैवानुमतः सुहृद्। एकक्रियं भवेन्मित्रं समप्राणः सखा मतः ॥) इति। प्रयोगसंहारयोर्विभक्तमन्त्रं गान्धर्वं गन्धर्वदेवताकम्। संमोह्यतेऽनेनेति संमोहनं नाम ममास्त्रमादत्स्व गृहाण। यतोऽस्त्रात्प्रयोक्तुरस्त्रप्रयोगिणोऽरिहिंसा न च विजयश्च हस्ते। हस्तगतो विजयो भवतीत्यर्थः।

अ०—सखे !, प्रयोगसंहारविभक्तमन्त्रं, गान्धर्वं, सम्मोहनं नाम, मम, अस्त्रम्, आदत्स्व, यतः, प्रयोक्तुः, अरिहिंसा, न, च, विजयः च, हस्ते 'भवति'। वा०—हे सखे ! [illegible] 'भवति'।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

सुधा—सखे !=हे समप्राण, हे [illegible] ! [illegible]। प्रयोगसंहारविभक्तमन्त्रम् =

प्रयुक्तिसंहरणविभिन्नमन्त्रं, गान्धर्वं = गन्धर्वदेवताकं, सम्मोहनं=तदाख्यम्, अन्वर्थनामकमित्यर्थः । नाम=प्रकाश्येऽर्थे, संमोहननाम्ना प्रसिद्धमित्यर्थः । मम=प्रियंवदस्य, अस्त्रम् = आयुधम्, आदत्स्व=गृहाण, मद्दत्तं स्वीकुर्वित्यर्थः । यतः=यस्माद्, अस्त्राद् इत्यर्थः । प्रयोक्तुः=प्रयोगकारिणः, अस्त्रसञ्चालनकर्त्तुरित्यर्थः । अरिहिंसा=शत्रुवधः, न=न हि, च=अवधारणेऽर्थे, विजयः=जयः, जयलाभ इत्यर्थः । च=समुच्चयेऽर्थे, हस्ते=करे, करतलगत इत्यर्थः । भवतीति शेषः ।

स०—सम्मोह्यतेऽनेनेति सम्मोहनम् तत्तथोक्तम् । प्रयोगश्च संहारश्च प्रयोगसंहारौ तयोर्विभक्तं प्रयोगसंहारविभक्तं तद् मन्त्रं यस्य तत् प्रयोगसंहारविभक्तमन्त्रम् तत्तथोक्तम् । गन्धर्वो देवताऽस्येति गान्धर्वं तत्तथोक्तम् । अरीणां हिंसाऽरिहिंसा ।

को०—'प्रयोगः कार्मणेऽपि स्यात्प्रयुक्तौ च निदर्शने' इति । 'विजयः स्याज्जये पार्थे स्त्रियां तिथ्यन्तरे स्मृता । उमासख्याम्' इति च मे० ।

ता०—हे समप्राण ! प्रियवर ! अज ! इदं मदीयं संमोहनं नामास्त्रं त्वं कृपया मत्तो गृहाण, अस्य च प्रयोगसंहारयोः, परस्परो भिन्नो मन्त्रोऽस्ति, तथा चैतद्गन्धर्वदेवताकमस्ति, अनेन शत्रूणां वधं विनैव तेषां सम्मोहनाद्विजयलाभो युद्धे ते निश्चयेन सर्वत्र भविष्यति ।

इन्दुः—हे प्राण के समान प्रिय अज ! आप, चलाने और लौटा लेने में जिसके पृथक् २ मन्त्र हैं, तथा गन्धर्व जिसके देवता है, और जो सब को मोहित करने वाला होने से सम्मोहन नाम से प्रसिद्ध है ऐसे मेरे इस अस्त्र को स्वीकार करें, जिस अस्त्र से कि-चलाने वाले के शत्रुओं का वध भी नहीं हो पाता और विजय हस्तगत हो जाता है ॥ ५७ ॥

वधलज्जितः कथमस्त्रग्रहणपरः स्यामिति चेत्तत्राह—

अलं ह्रिया मां प्रति यन्मुहूर्त्तं दयापरोऽभूः प्रहरन्नपि त्वम् ।
तस्मादुपच्छन्दयति प्रयोज्यं मयि त्वया न प्रतिषेधरौक्ष्यम् ॥५७॥

सञ्जी०—अलमिति । किं च । मां प्रति ह्रिया प्रहारनिमित्तयाऽलम् । कुतः । यतो हेतोस्त्वं मां प्रहरन्नपि मुहूर्त्तं दयापरः कृपालुरभूः । तस्मादुपच्छन्दयति प्रार्थयमाने मयि त्वया प्रतिषेधः परिहारः स एव रौक्ष्यं पौरुष्यम् । तन्न प्रयोज्यं न कर्तव्यम् ।

अ०—मां, प्रति, ह्रिया, अलं, 'कुतः' यद्, त्वं, प्रहरन्, अपि मुहुर्त्तं, दयापरः, अभूः, तस्माद्, उपच्छन्दयति, मयि, त्वया, प्रतिषेधरौक्ष्यं, न, प्रयोज्यम् । वा०—यत्त्वया प्रहरताऽपि दयापरेणाभावि, त्वं न प्रयुङ्ग्धि ।

सुधा—मां=प्रियंवदं, प्रति=आभिमुख्येऽर्थे, ह्रिया=लज्जया, वधजनितया अलं=निर्थके, मदुपरिकृतशरप्रहारे त्वयाऽनीयस्यापि लज्जा न करणीयेत्यर्थः । कुत इत्याह—यद्=यस्मात्कारणाद्, इत्यर्थः । मां=प्रियंवदं, प्राप्तगजशरीरमिति भावः । प्रहरन्=ताडयन्, शरप्रहारं

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

कुर्वन्नित्यर्थः । अपि = युक्तपदार्थे, मुहुर्त्तम् = अल्पकालं, दयापरः = करुणाऽन्वितः, अभूः = आसीः, तस्मात्=ततः, उपच्छन्दयति = अनुनयति, शस्त्रग्रहणविषये प्रार्थनां कुर्वतीत्यर्थः । मयि = प्रियंवदे, त्वया=भवता, प्रतिषेधरौक्ष्यं = निषेधरूक्षता, निषेधप्रयुक्तं पारुष्यमित्यर्थः । न=हि, प्रयोज्यं=करणीयम्, अवश्यं स्वीकर्त्तव्यमिति भावः॥

स०—दयासु परो दयापरः । रूक्षस्य भावो रौक्ष्यं, प्रतिषेध एव रौक्ष्यमिति प्रतिषेधरौक्ष्यम् ।

को०—'मुहुर्त्तमल्पकाले स्याद्घटिकाद्वितयेऽपि चे'ति मे० । 'वदते सांत्वयत्यपि । चपत्युपच्छन्दयति सामयत्यपि सांत्वने । ससानुनयतीत्येवमात्मने' इत्याख्या० ।

ता०—यद् भवान् मयि शरप्रहृतवानित्यतः किञ्चिन्मात्रमपि लज्जां न करोतु, यतो भवान् बाणप्रहारं कुर्वन्नपि मयि दयां कृतवान्, अतः प्रत्युपचिकीर्षया भवन्तं सम्मोहनास्त्राङ्गीकारार्थं प्रार्थये, आशासे च यदस्वीकाररूपं पारुष्यं भवान् न करिष्यतीति ।

इन्दुः—मेरे प्रति बाण प्रहार करने के कारण आप लज्जा मत करें, क्योंकि-आप मुझ पर प्रहार करते हुए भी थोड़ी देर के लिये दया से युक्त ही हुए थे, अर्थात् आप का बाण मारना मेरे लिये दया करना ही हुआ था, इस कारण अस्त्र ग्रहण करने के लिये मेरे प्रार्थना करने पर आप 'हम नहीं लेंगे' ऐसा अस्वीकार न करें ॥ ५८ ॥

अथ प्रियंवदात्तदीयं सम्मोहनास्त्रमजो गृहीतवानित्याह—

तथेत्युपस्पृश्य पयः पवित्रं सोमोद्भवायाः सरितो नृसोमः !
उदङ्मुखः सोऽस्त्रविदस्त्रमन्त्रं जग्राह तस्मान्निगृहीतशापात् ॥५९॥

सञ्जी०—तथेतीति । ना सोमश्चन्द्र इव नृसोमः । उपमितसमासः 'सोम ओषधिचन्द्रयोः' इति शाश्वतः । पुरुषश्रेष्ठ इत्यर्थः । अस्त्रविदस्त्रज्ञः सोऽजस्तथेति सोम उद्भवो यस्याः सा तस्याः सोमोद्भवायाः सरितो नर्मदायाः। 'रेवा तु नर्मदा सोमोद्भवा मेकलकन्यका' इत्यमरः । पवित्रं पय उपस्पृश्य पीत्वा । आचम्येत्यर्थः । उदयङ्मुखः सन्निगृहीतशापान्निवर्तितशापात्। उपकृतादित्यर्थः । तस्मात्प्रियंवदादस्त्रमन्त्रं जग्राह ॥

अ०—नृसोमः, अस्त्रवित्, सः तथा, इति, सोमोद्भवायाः, पवित्रं, पयः उपस्पृश्य, उदङ्मुखः, 'सन्' 'निगृहीतशापात्, तस्माद्, अस्त्रमन्त्रं, जग्राह । वा०—नृसोमेनास्त्रविदा तेन तथेत्युदङ्मुखेन 'सता' अस्त्रमन्त्रो जगृहे ॥

सुधा—नृसोमः = नरचन्द्रः, मनुष्यश्रेष्ठ इत्यर्थः । अस्त्रविद्=आयुधवेत्ता, सः= पूर्वोक्तः, अज इत्यर्थः,। तथा=तेन प्रकारेण, यथा भवता कथ्यतेऽस्त्रग्रहणाय तथैवाहं करिष्यामीत्यर्थः । इति=इत्थम्, उक्त्वेति शेषः । सोमोद्भवायाः=नर्मदायाः, पवित्रं = पूतं, पयः=जलम्, उपस्पृश्य=उपस्पर्शनं कृत्वा, आचम्येत्यर्थः । उदङ्मुखः= उत्तराभिमुखः, सन्निति शेषः । निगृहीतशापात्=दूरीकृतशापात्, प्राप्तोपकारादिति भावः । तस्मात्=पूर्वोक्तात् प्रियंवदादित्यर्थः । अस्त्रमन्त्रम्=आयुधप्रयोगसहारमन्त्रं,

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

जग्राह = गृहीतवान् ।

स०—सोमात्सोमवंशजात्पुरूरवस उद्भवति, तेनावतारितत्वात् सोमोद्भवा तस्याः सोमोद्भवायाः । ना सोम इव नृसोमः । अस्त्रं वेत्तीत्यस्त्रवित् । अस्त्रस्य मन्त्र इत्यस्त्रमन्त्रः तं तथोक्तम् । निगृहीतः शापो यस्यासौ निगृहीतशापः तस्मात्तथोक्तात् ।

को०—'उपस्पृशति चाचामत्यमू आचमनार्थके' इत्याख्या० ।

ता०—पुरुषश्रेष्ठोऽजः प्रियंवदप्रार्थनां श्रुत्वा ततस्तथाऽस्त्वित्युक्त्वा च तत्प्रार्थनामङ्गीकुर्वन् नर्मदायाः पवित्रं जलमाचम्योत्तराभिमुखः संस्तस्मात् प्रयोगसंहारविभक्तमन्त्रसहितमस्त्रं संमोहननामकं गृहीतवान् ।

इन्दु०—पुरुषश्रेष्ठ, अस्त्रों के जानने वाले युवराज अज ने 'जैसा आप कहते हैं वैसा ही होगा' अर्थात् मैं ग्रहण करूंगा, यह कहकर नर्मदा के पवित्र जल से आचमन करके उत्तर की ओर मुख किये हुए, जिसका शाप छूट गया था ऐसे उस प्रियंवद नामक गन्धर्वराजकुमार से संमोहन नामक अस्त्र को चलाने और लौटा लेने के मन्त्रों से सहित ग्रहण किया ॥ ५९ ॥

एवं मित्रत्वं प्राप्तवतोस्तयोः प्रियंवदश्चैत्ररथमजश्च विदर्भदेशान् ययावित्याह—

एवं तयोरध्वनि दैवयोगासेदुषोः सख्यमचिन्त्यहेतु ।
एको ययौ चैत्ररथप्रदेशान्सौराज्यरम्यानपरो विदर्भान् ॥ ६० ॥

सञ्जी०—एवमिति । एवमध्वनि मार्गे दैवयोगाद् दैववशादचिन्त्यहेत्वनिर्धार्यहेतुकं सख्यं सखित्वम्। 'सख्युर्य' इति । यप्रत्ययः । आसेदुषोः प्राप्तवतोस्तयोर्मध्ये एको गन्धर्वश्चैत्ररथस्य कुबेरोद्यानस्य प्रदेशान् । 'अस्योद्यानं चैत्ररथम्' इत्यमरः । अपरोऽजः, सौराज्येन राजन्वत्तया रम्यान्विदर्भदेशान् ययौ ।

अ०—एवम्, अध्वनि, दैवयोगाद्, अचिन्त्यहेतु, सख्यम्, आसेदुषोः, तयोः, एकः, चैत्ररथप्रदेशान्, अपरः, सौराज्यरम्यान्, विदर्भान्, ययौ । वा०—तयोरेकेन चैत्ररथप्रदेशा अपरेण सौराज्यरम्या विदर्भा ययिरे ।

सुधा०—एवम्=इत्थम्, उक्तप्रकारेणेत्यर्थः । अध्वनि=[illegible], दैवयोगाद्=विधिसंगत्या, विधिवशादित्यर्थः । अचिन्त्यहेतु=अतर्क्यनिमित्तकं, सख्यं=मित्रत्वम्, आसेदुषोः=अधिगतवतोः, तयोः=पूर्वोक्तयोः, अजप्रियंवदयोर्मध्य इत्यर्थ । एकः=गन्धर्वः,चैत्ररथप्रदेशान्=कुबेरोद्यानभागान्,प्रतीति शेषः। अपरः=अन्यः, अज इत्यर्थः। सौराज्यरम्यान्=सुराजतया मनोरमान्, विदर्भान्=विदर्भाख्यदेशान्, ययौ=अगमत् ॥

स०—अचिन्त्यो हेतुर्यस्य तदचिन्त्यहेतु तत्तथोक्तम् । चैत्ररथस्य प्रदेशाश्चैत्ररथप्रदेशाः तांस्तथोक्तान् । सुराज्ञो भावः सौराज्यं तेन रम्याः सौराज्यरम्याः तांस्तथोक्तान् ॥

को०—'योगः संनहनोपायध्यानसंगतियुक्तिषु' इत्यम०।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

ता०—एवं मार्गेऽकस्माद् मित्रभावं प्राप्तवतोस्तयोर्मध्य एकः प्रियंवदः कुबेरोद्यान-

अपरोऽजश्च विदर्भदेशान् प्रति जगाम ।

इन्दुः—इस प्रकार मार्ग में दैवयोग से, जिसका कारण नहीं समझा जा सकता ऐसा परस्पर मित्रभाव को प्राप्त किये हुए उन दोनों के मध्य में से एक अर्थात् प्रियंवद चैत्ररथ नामक कुबेर के बगीचा की ओर गया और दूसरे युवराज अज भलीभाँति शासन करने वाले राजा के सुन्दर विदर्भ देश की ओर गये ॥ ६० ॥

अथ नगरसमीपेऽजस्यागमनं श्रुत्वा विदर्भाधिपतिस्तत्स्वागतार्थं स्वसदनान्निर्गत्य तं प्रत्युज्जगामेत्याह—

तं तस्थिवांसं नगरोपकण्ठे तदागमारूढगुरुप्रहर्षः ।
प्रत्युज्जगाम क्रथकैशिकेन्द्रश्चन्द्रं प्रवृद्धोर्मिरिवोर्मिमाली ॥ ६१ ॥

सञ्जी०—तमिति । नगरस्योपकण्ठे समीपे तस्थिवांसं स्थितं तमजं तस्याजस्यागमेनागमनेनारूढ उत्पन्नो गुरुः प्रहर्षो यस्य स क्रथकैशिकेन्द्रो विदर्भराजः । प्रवृद्धोर्मिरूर्मिमाली समुद्रश्चन्द्रमिव प्रत्युज्जगाम ॥

अ०—नगरोपकण्ठे, तस्थिवांसं, तं, तदागमारूढगुरुप्रहर्षः, क्रथकैशिकेन्द्रः, प्रवृद्धोर्मिः, ऊर्मिमाली, चन्द्रमिव, प्रत्युज्जगाम । वा०—तस्थिवान् स तदागमारूढगुरुप्रहर्षेण क्रथकैशिकेन्द्रेण प्रवृद्धोर्मिणोर्मिमालिना चन्द्र इव प्रत्युज्जगमे ।

सुधा०—नगरोपकण्ठे=पुरान्तिके, तस्थिवांसं=कृतावस्थानं स्थितमित्यर्थः । तम्=पूर्वोक्तम्, अजमित्यर्थः । तदागमारूढगुरुप्रहर्षः=पूर्वोक्ताजागमप्रादुर्भूतानल्पप्रमोदः, अजागमनेनातीवप्रमोदयुक्त इत्यर्थः । क्रथकैशिकेन्द्रः=विदर्भदेशाधिपतिः, भोज इत्यर्थः । प्रवृद्धोर्मिः=समेधिततरङ्गः, ऊर्मिमाली=तरङ्गपङ्क्तिशाली, उदधिरित्यर्थः । चन्द्रम्=इन्दुम्, इव=यथा, प्रत्युज्जगाम=प्रत्युद्ययौ ॥

स०—नगरस्योपकण्ठो नगरोपकण्ठः तस्मिंस्तथोक्ते। तस्यागमस्तदागमः तेनारूढस्तदागमारूढः तादृशो गुरुः प्रहर्षो यस्य स तदागमारूढप्रहर्षः । क्रथकैशिकेष्विन्द्र इति क्रथकैशिकेन्द्रः प्रवृद्धा ऊर्मयो यस्मिन् स तथोक्तः । ऊर्मीणां मालोर्मिमाला साऽस्त्यस्मिन्नित्यूर्मिमाली ।

को०—'उपकण्ठान्तिकाभ्यर्णाभ्यग्रा अप्यभितोऽव्ययम्' इति । 'भङ्गस्तरङ्ग ऊर्मिर्वा' इति चामे० । 'माला तु पङ्क्तौ पुष्पादिदामनि' इत्यने० ।

ता०—यथा समुद्र उदितं पूर्णचन्द्रमवलोक्य तदालिङ्गनोत्कतया प्रवृद्धोर्मिः सम्पद्यते, तथैव विदर्भाधिपतिर्नगरसमीपस्थितमजं श्रुत्वा तदवलोकनोत्कण्ठितः सततिप्रमोदयुक्तस्तत्स्वागतार्थं स्वयं स्वसदनान्निर्गत्य तं प्रत्युज्जगाम ।

इन्दुः—नगर के समीप में स्थित उन युवराज अज के आगमन से उत्पन्न हुए अत्यन्त हर्ष से युक्त विदर्भ देश के महाराज भोज, जैसे-बढ़ी हुई लहरों वाला समुद्र चन्द्रमा के उदय होने से अत्यन्त आनन्दित हो उससे मिलने के लिये जाता है, वैसे ही मिलने के लिये गये ॥ ६१ ॥

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अथ विदर्भेश्वरोऽग्रयायी भूत्वा मार्गं प्रदर्शयन्नजं सादरं स्वपुरं प्रवेश्य नम्र सन्नुपाचरदित्याह—

प्रवेश्य चैनं पुरमग्रयायी नीचैस्तथोपाचरदर्पितश्रीः ।
मेने यथा तत्र जनः समेतो वैदर्भमागन्तुमजं गृहेशम् ॥ ६२ ॥

सञ्जी०—प्रवेश्येति । एनमजमग्रयायी। सेवाधर्मेण पुरो गच्छन्नित्यर्थः। नीचैर्नम्रः पुरं प्रवेश्य प्रवेशं कारयित्वा प्रीत्याऽर्पितश्रीस्तथा तेन प्रकारेणोपाचरदुपचरितवान्। यथा येन प्रकारेण तत्र पुरे समेतो मिलितो जनो वैदर्भं भोजमागन्तुं प्राघूर्णिकं मेने। अजं गृहेशं गृहपतिं मेने ।

अ०—एनम्, अग्रयायी, नीचैः, पुरं, प्रवेश्य, 'प्रीत्या' अर्पितश्रीः, तथा, उपाचरत्, यथा, तत्र, समेतः, जनः, वैदर्भम्, आगन्तुम्; अजम्, गृहेशं, मेने ॥

वा०—एषोऽग्रयायिनाऽर्पितश्रिया तथोपाचर्यत यथा तत्र समेतेन जनेन वैदर्भ आगन्तुर्मेनेऽजो गृहेशो मेने ॥

सुधा—एनं = पूर्वोक्तम्, अजमित्यर्थः। अग्रयायी=पुरोगामी, यथा स्वामिनोऽग्रे वर्त्म दर्शयन् सेवको याति तथैव पुरोगच्छन्, विदर्भेश्वर इत्यर्थः। नीचैः=नम्रः, सन्निति शेषः। पुरं = नगरं, प्रवेश्य = प्रवेशं कारयित्वा, अर्पितश्रीः = दत्तलक्ष्मीकः, प्रीत्या सर्वाः स्वकीयाः सम्पदः समर्प्येत्यर्थः। तथा = तेन प्रकारेण, उपाचरत् = पर्यचरत्, सेवां कृतवानित्यर्थः। यथा = येन प्रकारेण, तत्र = तस्मिन्, पुर इत्यर्थः, समेतः = सङ्गतः, जनः = लोकः, वैदर्भं = विदर्भाधिपतिं, भोजमित्यर्थः आगन्तुम् = अभ्यागतं, गृहागतमित्यर्थः। अजं = रघुतनयं, गृहेशं = गृहस्वामिनं, मेने = ज्ञातवान् ॥

स०—अग्रे यातुं शीलमस्यासावग्रयायी। अर्पिता श्रीर्येन सोऽर्पितश्रीः। गृहस्येश इति गृहेशः तं गृहेशम् ॥

को०—'स्युरावेशिक आगन्तुरतिथिर्ना गृहागते' इत्य० ॥

ता०—विदर्भाधिपतिर्भोजः सेवकवत् पुरोगच्छन्नेनमजं नगराभ्यन्तरं सादरं समानीय सर्वाः सम्पदस्तदधीनीकृत्यैव नम्रः संस्तथा परिचचार यया स्वयंवरं दिदृक्षवो नगरान्तरात्समायातास्तत्रत्याश्च जना आगन्तुकमजं गृहस्वामिनं मेनिरे, गृहस्वामिनं विदर्भाधिपञ्चागन्तुकं मेनिरे ॥

इन्दु—उन अज के आगे २ जाते हुए नम्र भोज महाराज उन्हें नगर में प्रवेश कराकर प्रेम से सारी सम्पत्ति अर्पण किये हुए उस तरह उनकी सेवा करने लगे जिस तरह वहाँ पर इकट्ठे हुए लोगों ने विदर्भदेशाधिपति को आगन्तुक (मेहमान) और अज को घर का मालिक समझा ॥ ६२ ॥

अथाजो भोजराजपुरुषनिर्दिष्टां रम्यां नूतनोपकार्यामध्युवासेत्याह—

तस्याधिकारपुरुषैः प्रणतैः प्रदिष्टां
प्राग्द्वारवेदिविनिवेशितपूर्णकुम्भाम् ।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

रम्यां रघुप्रतिनिधिः स नवोपकार्यां
बाल्यात्परामिव दशां मदनोऽध्युवास ॥ ६३ ॥

सञ्जी०—तस्येति । रघुप्रतिनिधिः रघुकल्पः। रघुतुल्य इत्यर्थः। उक्तं च दण्डिना सादृश्यवाचकप्रस्तावे 'कल्पदेशीयदेश्यादि प्रख्यप्रतिनिधि अपि' इति। सोऽजः प्रणतैर्नमस्कृतवद्भिः । कर्तरि क्तः । तस्य भोजस्याधिकारो नियोगस्तस्य पुरुषैः। अधिकृतैरित्यर्थः । प्रदिष्टां निर्दिष्टां प्राग्द्वारस्य वेद्यां विनिवेशितः पूर्णकुम्भो यस्यास्ताम् । स्थापितमङ्गलकलशामित्यर्थः । रम्यां रमणीयां नवोपकार्यां नूतनराजभवनम् । 'उपकार्या राजसद्मन्युपचारचितेऽन्यवत्' इति विश्वः। मदनो बाल्यात्परां, शैशवादनन्तरां दशामिव । यौवनमिवेत्यर्थः । अध्युवासाधिष्ठितवान् । तत्रोषितवानित्यर्थः । 'उपान्वध्याङ्वसः' इति कर्मत्वम् ॥

अ०—रघुप्रतिनिधिः, सः, प्रणतैः, तस्य, अधिकारपुरुषैः, प्रदिष्टां, प्राग्द्वारवेदिविनिवेशितपूर्णकुम्भां, रम्यां, नवोपकार्यां, मदनः, बाल्यात , परां, दशाम् , इव, अध्युवास ॥ वा०—रघुप्रतिनिधिना तेन प्रदिष्टा प्राग्द्वारवेदिविनिवेशितपूर्णकुम्भा रम्या नवोपकार्या मदनेन बाल्यात् परा दशेवाध्यूषे ॥

सुधा०—रघुप्रतिनिधिः = दिलीपसूनुप्रतिमः, रघुसदृशः इत्यर्थः । सः = पूर्वोक्तः, अज इत्यर्थः । प्रणतैः = प्रणमद्भिः, तस्य = पूर्वोक्तस्य, विदर्भाधिपस्य भोजस्येत्यर्थः । अधिकारपुरुषैः=नियुक्तनरैः, गृहागतानां परिचर्यायां नियुक्तैर्जनैरित्यर्थः । प्रदिष्टां= निर्दिष्टां, प्राग्द्वारवेदिविनिवेशितपूर्णकुम्भां=प्रथमद्वारवर्त्तिपरिष्कृतभूतलस्थापितमङ्गलघटां, रम्यां = मनोहरां, नवोपकार्यां = नूतनराजसद्मनं, मदनः = स्मरः, बाल्यात्= शैशवात् , पराम्=उत्तराम् , अनन्तरामित्यर्थः। दशाम् = अवस्थां, यौवनमित्यर्थः। इव = यथा, अध्युवास = अध्यवात्सीत् , निवासं कृतवानित्यर्थः ॥

स०—अधिकारस्य पुरुषा अधिकारपुरुषाः तैस्तथोक्तैः। प्राग्द्वारस्य वेदिः प्राग्द्वारवेदि तत्र विनिवेशितः प्राग्द्वारवेदिविनिवेशितः स पूर्णकुम्भो यस्यां सा प्राग्द्वारवेदिविनिवेशितपूर्णकुम्भा तां तथोक्ताम् । रघोः प्रतिनिधिः रघुप्रतिनिधिः । नवा चासावुपकार्या नवोपकार्या तां तथोक्ताम् । बालस्य भावो बाल्यं तस्माद्बाल्यात् ॥

को०—'प्रक्रिया त्वधिकारः स्यात्' इत्य० । 'स्त्री द्वार्द्वारं प्रतीहारः' इत्य०। 'मदनः सिक्थके स्मरे । जले वसन्ते धत्तूरे' इत्यने० ॥

ना०—अजो महाराजभोजेनागन्तुकानां सेवायामधिकृतैः पुरुषैर्निर्दिष्टे द्वारवेद्यां प्रतिष्ठापितैर्मङ्गलार्थकैर्जलपूर्णकुम्भैः सुशोभिते रम्ये पटनिर्मिते राजसदने तथा निवासं कृतवान् , यथा मदनो युवावस्थायां निवसति ॥

इन्दुः—रघु के तुल्य युवराज अज ने नमस्कार करते हुए, उन विदर्भाधिपति भोज के नियुक्त किये हुए पुरुषों से बतलाये हुए, जिसके प्रधान द्वार के आगे वेदी पर जल से भरे मङ्गल कलश रखे हुए हैं, ऐसे सुन्दर, नवीन कपड़े के बने हुए, राजाओं

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection.

के रहने के योग्य मण्डप में, जैसे कामदेव बाल्यावस्था के बाद युवावस्था में निवास करता है उसी भांति निवास किया ॥ ६३ ॥

अथ रात्रौ कन्यारत्नमिन्दुमतीं लिप्सुरजश्चिरेण निद्रावशो बभूवेत्याह—

तत्र स्वयंवरसमाहृतराजलोकं कन्याललाम कमनीयमजस्य लिप्सोः ।
भावावबोधकलुषा दयितेव रात्रौ निद्रा चिरेण नयनाभिमुखी बभूव ॥६४॥

सञ्जी०—तत्रेति । तत्रोपकार्यायां स्वयंवरनिमित्तं समाहृतः सम्मेलितो राजलोको येन तत्कामनीयं स्पृहणीयं कन्याललाम कन्यासु श्रेष्ठम् । 'ललामोऽस्त्री ललामपि प्रभावे पुरुषे ध्वजे । श्रेष्ठभूषाशुण्डशृङ्गपुच्छचिह्नाश्वलिङ्गिषु' इति यादवः । लिप्सोर्लब्धुमिच्छोः । लभेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । अजस्य भावावबोधे पुरुषस्याभिप्रायपरिज्ञाने कलुषाऽसमर्था दयितेव रात्रौ निद्रा चिरेण नयनाभिमुखी बभूव । 'राजानं कामिनं चौरं प्रविशन्ति प्रजागराः' इति भावः । अभिमुखीशब्दो ङीषन्तश्च्व्यन्तो वा ॥

अ०—तत्र, स्वयंवरसमाहृतराजलोकं, कन्याललाम, लिप्सोः, अजस्य, भावावबोधकलुषा, दयिता, इव, रात्रौ, निद्रा, चिरेण, नयनाभिमुखी, बभूव ॥ वा०—तत्र स्वयंवरसमाहृतराजलोकं कमनीयं कन्याललाम लिप्सोरजस्य भावावबोधकलुषया दयितयेव रात्रौ निद्रया चिरेण नयनाभिमुख्या बभूवे ॥

सुधा—तत्र=पूर्वोक्तायां, नवोपकार्यायामित्यर्थः । स्वयंवरसमाहृतराजलोकं=स्वयंवरार्थसंगमितनृपजनं, स्वयंवरार्थं देशान्तरसमाहूतराजगणसम्मेलनकारीत्यर्थः । कमनीयम्=अभिलषणीयं, कन्याललाम=नारीश्रेष्ठम्, इन्दुमतीमित्यर्थः । लिप्सोः=अभीप्सोः, प्राप्तुमिच्छोरित्यर्थः । अजस्य=रघुसूनोः, भावावबोधकलुषा=आशयपरिज्ञानाविला, पुरुषाशयज्ञानेऽक्षमेत्यर्थः । दयिता = प्रिया, काचिद् रमणीत्यर्थः । इव= यथा, रात्रौ = रजन्यां, निद्रा = स्वापः, चिरेण=बहुक्षणानन्तरं, नयनाभिमुखी=नेत्रसम्मुखी, बभूव = अभूत् ॥

स०—राज्ञां लोको राजलोकः स्वयंवरार्थं समाहृतः स्वयंवरसमाहृतः स राजलोको येन तत् स्वयंवरसमाहृतराजलोकम् तत्तथोक्तम् । कन्यासु ललाम कन्याललाम तत्तथोक्तम् । भावस्यावबोधो भावावबोधः तत्र कलुषा भावावबोधकलुषा । नयनयोरभिमुखी नयनाभिमुखी ।

को०—'भावः सत्तास्वभावाभिप्रायचेष्टाऽऽत्मजन्मसु । क्रियालीलापदार्थेषु विभूतिबुधजन्तुषु । रत्यादौ च' इति मे० । अभीष्टेऽभीप्सितं हृद्यं दयितं वल्लभं प्रियम् इति । 'स्यान्निद्रा शयनं स्वापः' इति चा० ।

ता०—यस्य प्राप्त्यर्थं देशान्तरेभ्योऽनेकशो राजानो निमन्त्रिताः सन्तः समवेताः तस्यैव कन्यारत्नस्य प्राप्तिविषयकचिन्ताग्रस्ततयाऽजो रात्रौ बहुमुहूर्त्तानन्तरं निद्रितो बभूव ॥

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

इन्दुः—उस पटनिर्मित राजमण्डप में, स्वयंवर में जिस के लिये राजा लोग एकत्र

किये गये हैं, ऐसे सबों के चाहने योग्य कन्याओं में श्रेष्ठ उस इन्दुमती के पाने की इच्छा रखने वाले अज के अभिप्राय के जानने में असमर्थ मुग्ध नवोढा नायिका की भांति निद्रा रात में बहुत देर के बाद आंखों के सम्मुख अर्थात् आंखों में आई॥६४॥

अथ रात्रौ बहुमुहूर्त्तानन्तरं प्रसुप्तमजं वन्दिपुत्राः स्तुतिपाठैरुषसि प्रबोधयामासुरित्याह—

तं कर्णभूषणनिपीडितपीवरांसं शय्योत्तरच्छदविमर्दकृशाङ्गरागम् ।
सूतात्मजाः सवयसः प्रथितप्रबोधं प्राबोधयन्नुषसि वाग्भिरुदारवाचः ॥

सञ्जी०—तमिति। कर्णभूषणाभ्यां निपीडितौ पीवरौ पीनावंसौ यस्य तम् । शय्याया उत्तरच्छदस्योपर्यास्तरणवस्त्रस्य विमर्दन घर्षणेन कृशो विरलोऽङ्गरागो यस्य तम्। न त्वङ्गनासङ्गादिति भावः। प्रथितप्रबोधं प्रकृष्टज्ञानं तमेनमजं सवयसः समानवयस्का उदारवाचः प्रगल्भगिरः सूतात्मजा वन्दिपुत्राः । 'वैतालिकाः' इति वा पाठः । 'वैतालिका बोधकराः' इत्यमरः । वाग्भिः स्तुतिपाठैरुषसि प्राबोधयन्प्रबोधयामासुः ॥

अ०—कर्णभूषणनिपीडितपीवरांसं, शय्योत्तरच्छदविमर्दकृशाङ्गरागं, प्रथितप्रबोधं, तं सवयसः, उदारवाचः, सूतात्मजाः, वाग्भिः, उषसि, प्राबोधयन् ॥ वा०—कर्णभूषणनिपीडितपीवरांसः शय्योत्तरच्छदविमर्दकृशाङ्गरागः प्रथितप्रबोधः सः सवयोभिरुदारवाग्भिः सूतात्मजैर्वाग्भिरुषसि प्राबोध्यत ॥

सुधा—कर्णभूषणनिपीडितपीवरांसं=श्रवणालङ्कारमर्दितपीनस्कन्धं, शय्योत्तरच्छदविमर्दकृशाङ्गरागं=तल्पोपर्यास्तरणपटसङ्घर्षणनिर्मृष्टकस्तूरिकाऽऽद्यङ्गरागं, प्रथितप्रबोधं=विश्रुतज्ञानं, प्रकृष्टज्ञानशालिनमित्यर्थः । तं=पूर्वोक्तम्, प्रसुप्तमजमित्यर्थः । सवयसः=तुल्यवयस्काः, उदरवाचः=प्रौढगिरः, सूतात्मजाः=बन्दिपुत्राः, । वाग्भि=स्तुतिवचनैः, उषसि=प्रत्यूषे, प्रातःकाल इत्यर्थः । प्राबोधयन्=प्रबोधयन्ति स्म ॥

स०—कर्णयोर्भूषणे कर्णभूषणे ताभ्यां निपीडितौ कर्णभूषणनिपीडितौ तौ पीवरावंसौ यस्य स कर्णभूषणनिपीडितपीवरांसः तं तथोक्तम् । शय्याया उत्तरच्छदः शय्योत्तरच्छदः तस्य विमर्दः शय्योत्तरच्छदविमर्दः तेन कृशः शय्योत्तरच्छदविमर्दकृशः सोऽङ्गरागो यस्य स शय्योत्तरच्छदविमर्दकृशाङ्गरागः तं तथोक्तम् । सूतानामात्मजाः सूतात्मजाः । समानं वयो येषां ते सवयसः । प्रथितः प्रबोधो यस्य स प्रथितप्रबोधः तं तथोक्तम् । उदारा वाचो येषां तु उदारवाचः ॥

कोशः—'पीनपीव्नी तु स्थूलपीवरे' इत्य० । अंसः स्कन्धे विभागे स्यात्' इति है० । 'उदारो दातृमहतोर्दक्षिणे चाभिधेयवत्' इति वि० ॥

ता०—अथ रात्रौ चिरेण प्रसुप्तस्याजस्य स्थूलमंसद्वयं कर्णभूषणद्वयेन पीडिततया रेखाऽङ्कितं, पर्यङ्कस्योपर्यास्तरणवस्त्रस्य संघर्षणेन कस्तूरिकाऽऽद्यङ्गरागो निमृष्टश्चाभूताम्, तमजं प्रातःकाले बन्दिपुत्रा मनोहरैः स्तुतिपाठः प्रबोधयामासुः ॥

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

इन्दुः—दोनों कर्ण के भूषणों से जिसके मोटे २ दोनों कन्धे दब गये हैं, और

शय्या के ऊपर बिछाने के चद्दर की रगड़ से जिसके अङ्ग में लगे हुए कस्तूरी आदि अङ्गराग छूट गये हैं, तथा जो उत्तम ज्ञान सम्पन्न हैं, ऐसे उन युवराज अज को समान अवस्था वाले, प्रगल्भता के साथ बात करने वाले, वन्दियों के पुत्र स्तुति-वचनों को कह कर जगाने लगे ॥ ६५ ॥

अजं प्रबोधयितुकामाः स्तुतिवचनानि ब्रुवन्तो वन्दिपुत्रा आदौ निद्रात्यागे हेतुं प्रदर्शयन्तीत्याह

रात्रिर्गता मतिमतां वर ! मुञ्च शय्यां
धात्रा द्विधैव ननु धूर्जगतो विभक्ता ।
तामेकतस्तव बिभर्ति गुरुर्विनिद्र-
स्तस्या भवानपरधुर्यपदावलम्बी ॥ ६६ ॥

सञ्जी०—रात्रिरिति । हे मतिमतां वर ! निर्धारणे षष्ठी । रात्रिर्गता । शय्यां मुञ्च विनिद्रो भवेत्यर्थः । विनिद्रत्वे फलमाह—धात्रेति । धात्रा ब्रह्मणा जगतो धूर्भारः । 'धूः स्याद्यानमुखे भारे' इति यादवः । द्विधैव द्वयोरेवेत्यर्थः । एवकारस्तृतीयनिषेधार्थः। विभक्ता ननु विभज्य स्थापिता खलु । तत्किमत आह—तां धुरमेकत एककोटौ तव गुरुः पिता विनिद्रः सन् बिभर्ति, तस्या धुरो भवान् । धुरं वहतीति धुर्यो भारवाही। तस्य पदं वहनस्थानम् । अपरं यद् धुर्यपदं तदवलम्बी । ततो विनिद्रो भवेत्यर्थः । न ह्युभयबाह्यमेको वहतीति भावः ।

अ०—मतिमतां, वर ! रात्रिः, गता, शय्यां मुञ्च, धात्रा, जगतः, धूः, द्विधा, एव, विभक्ता, ननु, ताम्, एकतः, तव, गुरुः, विनिद्रः, 'सन्' बिभर्त्ति, तस्याः, भवान्, अपरधुर्यपदावलम्बी, भव ॥ वा०—हे मतिमतां वर ! रात्र्या गतया भूयते 'त्वया' शय्या मुच्यतां, धाता जगतो धुरं द्विधैव विभक्तवान् ननु सैकतस्तव गुरुणा विनिद्रेण 'सता' भ्रियते, तस्य भवताऽपरधुर्यपदावलम्बिना 'भूयताम्' ॥

सुधा—मतिमतां = बुद्धिमतां, वर = श्रेष्ठ !, हे अज ! इत्यर्थः । रात्रिः = निशा, गता = व्यतीता, अतः शय्यां = तल्पं, मुञ्च = त्यज, जागृहीत्यर्थः । धात्रा = वेधसा, जगतः = लोकस्य, पृथिव्या इत्यर्थः । धूः = भारः, पृथ्वीपालनरूपो भार इत्यर्थः । द्विधा = द्विप्रकारिका, एव = अवधारणेऽर्थे, उभयोरेवेत्यर्थः । विभक्ता = विभज्य स्थापिता, ननु = खलु, ता = पूर्वोक्तां, जगतो धुरमित्यर्थः । एकतः=एककोटौ, तव= भवतः, गुरुः=पिता, रघुरित्यर्थः । विनिद्रः=त्यक्तस्वापः, आलस्यशून्य इत्यर्थः । सन् । बिभर्ति = वहति, तस्याः = पूर्वोक्तायाः, धुर इत्यर्थः । भवान् = त्वम्, युवराजोऽज इत्यर्थः । अपरधुर्यपदावलम्बी=इतरधुरीणस्थानाश्रयी, भवेति शेषः । ततस्त्यक्तनिद्रो भवेत्यर्थः न हि द्वयवहनयोग्यं भारमेक एव कश्चिद्वोढुं समर्थो भवतीति भावः ॥

स०—मतिरस्त्यास्तीति मतिमान् तेषां मतिमताम् । विगता निद्रा यस्य स विनिद्रः । धुरं वहतीति धुर्यः तस्य पदं धुर्यपदम् अपरं च तद् धुर्यपदमपरधुर्यपदं

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection.

तदवलम्बितुं शीलमस्येत्यपरधुर्यंपदावलम्बी ॥

को—'शय्या तल्पे शब्दगुम्फे' इत्यनेकार्थसंग्रहः ॥

ता०—हे तीक्ष्णमते ! रात्रिर्व्यतीताऽतस्त्वं शय्यां परित्यज्य विनिद्रो भव, विधाता पृथ्वीपालनरूपकार्यभारं द्विधा विभज्य त्वयि त्वत्पितरि रघौ च स्थापितवान्, त्वत्पिता तु विनिद्रो भूत्वा सम्प्रति स्वस्मिन् न्यस्तं कार्यभारं वहन् सन् पृथ्वीं रक्षति किन्तु त्वं शयितोऽसि, अतो नेदमुचितं, ततस्त्वमपि स्वकीयं कार्यभारं विनिद्रो भूत्वा वहन् सन् पृथ्वीं पालय ॥

इन्दुः—हे बुद्धिमानों में श्रेष्ठ अज ! रात बीत गई, अतः शय्या को आप छोड़ें, अर्थात् निद्रात्याग करके उठें, क्योंकि—ब्रह्माजी ने जगत् के पालन का भार दो हां हिस्सों में बांट कर रखा है, उसमें से एक हिस्से के कार्यभार को आपके पिता रघु महाराज निद्रा त्याग कर वहन कर रहे हैं और आप भी उस जगत्पालनरूप कार्यभार के दूसरे हिस्से के भारवाहन करने वाले के स्थान का अवलम्बन करें अर्थात् आप भी उठकर अपने हिस्से के भार को वहन करते हुए पृथ्वी पालन करें। क्योंकि—दो भार एक नहीं उठा सकता है ॥ ६६ ॥

अथ वन्दिपुत्रा अजस्य निद्रात्यागे हेतुभूतं निशाऽवसानमेव चन्द्रस्यास्तमित्वेन संसूचयन्त आहुरित्याह—

निद्रावशेन भवताऽप्यनपेक्ष्यमाणा पर्युत्सुकत्वमबला निशि खण्डितेव ।
लक्ष्मीर्विनोदयति येन दिगन्त लम्बी सोऽपित्वदाननरुचिं विजहाति चन्द्रः ॥

सञ्जी०—चन्द्रारविन्दराजवदनादयो लक्ष्मीनिवासस्थानानीति प्रसिद्धिमाश्रित्योच्यते। निद्रावशेन निद्राऽधीनेन। स्व्यन्तरासङ्गोऽत्र ध्वन्यते। भवता पर्युत्सुकत्वमपि। त्वय्यनुरक्तत्वमपीत्यर्थः। 'प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया च' इति सप्तम्यर्थे तृतीया। अपिशब्दस्तद्विषयानुरागस्यानपेक्षत्वद्योतनार्थः। निशि खण्डितया भर्त्तुरन्यासङ्गज्ञानकलुषिताऽबलेव नायिकेव। 'ज्ञातेऽन्यासङ्गविकृते खण्डितेर्ष्याकषायिता' इति दशरूपके। अनपेक्षमाणाऽविचारयन्ती सती। उपेक्ष्यमाणेत्यर्थः। 'ह्यनवेक्ष्यमाणा' इति पाठे निद्रावशेन भवताऽनवेक्ष्यमाणाऽनिरीक्ष्यमाणा। कर्मणि शानच्। लक्ष्मीः प्रयोजककर्त्री येन प्रयोज्येन चन्द्रेणापर्युत्सुकत्वं त्वद्विरहवेदनाम्। कालाक्षमत्वमौत्सुक्यं मनस्तापज्वरादिकृद्' इत्यलङ्कारे। विनोदयति निरासयतीति योजना' शेषं पूर्ववत्। (नाथस्त्वथोंपपत्तिमपश्यन्निमं पक्षमुपैक्षिष्ट)। लक्ष्मीर्येन चन्द्रेण सह। त्वदाननसदृशत्वादिति भावः। 'विनोदयति विनोदं करोति। विनोदशब्दात् 'तत्करोति तदाष्टे' इति णिच्प्रत्ययः। सादृश्यदर्शनादयो हि विरहिणां विनोदस्थानानीति भावः। स चन्द्रोऽपि दिगन्तलम्बी पश्चिमाशां गत; सन् अस्तं गच्छन्नित्यर्थः। अत एव त्वदाननरुचिं विजहाति। त्वन्मुखसादृश्यं त्यजतीत्यर्थः। अतो निद्रां विहाय तां लक्ष्मीमनन्यशरणां परिगृहाणेति भावः।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

अ०—निद्रावशेन, भवता, पर्युत्सुकत्वम्, अपि, निशि, खण्डिता, अबला, इव, अनपेक्ष्यमाणा, 'सती' लक्ष्मीः, येन, 'पर्युत्सुकत्वं' विनोदयति, सः, चन्द्रः, अपि, दिगन्तलम्बी, सन्, त्वदाननरुचिं, विजहाति। वा०—निद्रावशेन भवता पर्युत्सुकत्वमपि निशि खण्डितयाऽबलयेवानपेक्ष्यमाणया 'सत्या' लक्ष्म्या येन 'पर्युत्सुकत्वं' विनोद्यते, तेन चन्द्रेणापि दिगन्तलम्बिना 'सता' त्वदाननरुचिर्विहीयते।

सुधा—निद्रावशेन = स्वापायत्तेन, निद्रावशं गतेनेत्यर्थः। भवता=त्वया, अजेनेत्यर्थः। पर्युत्सुकत्वम् = अत्यौत्सुक्यम्, अपि = युक्तपदार्थे, निशि = रात्रौ, खण्डिता= भर्त्तरन्यासङ्गज्ञानकलुषिता, अबला=नायिका, इव = यथा, अनपेक्ष्यमाणा=अनवेक्ष्यमाणा, उपेक्षिता क्रियमाणेत्यर्थः। सती। लक्ष्मीः=श्रीः, शोभेत्यर्थः। येन=चन्द्रेण, पर्युत्सुकत्वम्=अत्यौत्सुक्यं, विरहवेदनामित्यर्थः। विनोदयति=दूरीकरोति, अथवा= येन = चन्द्रेण सहेति शेषः। विनोदयति=विनोदं करोति। सः = पूर्वोक्तः, विनोदसाधनभूत इत्यर्थः। चन्द्रः=इन्दुः, अपि=समुच्चयेऽर्थे, दिगन्तलम्बी=पश्चिमाशाप्रान्ताश्रयी, अस्तं प्राप्नुवन्नित्यर्थः। सन्। त्वदाननरुचिं भवन्मुखकान्तिं, त्वन्मुखसादृश्यमित्यर्थः। विजहाति=त्यजति, अतो निद्रां त्यक्त्वा निराश्रयां लक्ष्मीमङ्गीकुर्विति भावः।

स०—निद्राया वशो निद्रावशः तेन तथोक्तेन। अपेक्ष्यत इत्यपेक्ष्यमाणा नापेक्ष्यमाणेत्यनपेक्ष्यमाणा। दिशामन्तो दिगन्तः तं लम्बितुं शीलमस्येति दिगन्तलम्बी। तवाऽननं त्वदाननं तस्य रुचिस्त्वदाननरुचिः तां तथोक्ताम्।

को०—'वशो जनस्पृहाऽऽयत्तेश्वायत्तत्वप्रभुत्वयोः' इत्यनेकार्थसंग्रहः। 'स्त्री योषिदबला योषा' इति। 'वक्त्रास्ये वदनं तुण्डमाननं लपनं मुखम्' इति चामरः।

ता०—रात्रौ त्वयि सुप्ते सति या तव प्रेयसी लक्ष्मीः खण्डिता नायिकेव स्वामिनं त्वां निद्रारूपायामन्यस्यां कस्यांचिद्रमण्यामिव संसक्तं ज्ञात्वाऽत एव विषण्णा सती स्वमनोविनोदार्थं त्वन्मुखसादृश्यं भजमानं यं चन्द्रं समाश्रितवती, सोऽपि चन्द्रः इदानीमस्तं यास्यत एव निराश्रयामनन्यशरणां तां लक्ष्मीं निद्रां परित्यज्याङ्गीकुरु॥

इन्दुः—निद्रारूपी रमणी के अधीन हुये आप के विषय में अपनी अनुरक्ति की तरफ रात्रि में खण्डिता नायिका की भांति कुछ ध्यान नहीं देती हुई, अतः खिन्नचित्त होती हुई लक्ष्मी जिस चन्द्रमा के साथ अपने मन को बहलाती थी, वह चन्द्रमा भी इस समय पश्चिम दिशा के अन्त में जाता हुआ अर्थात् अस्त होता हुआ तुम्हारे मुख की कान्ति की भांति जो अपनी कान्ति है, उसको छोड़ रहा है, अर्थात् कान्तिहीन हो रहा है। अतः निद्रा को छोड़कर आप जिसका कोई आश्रय नहीं है, ऐसी उस लक्ष्मी को ग्रहण करें अर्थात् उठें ॥ ६७ ॥

अथ निशाऽवसानद्योतकः कमलानां विकासोऽभूदित्यतस्तव नेत्रकमलयोरप्युन्मीलनं समुचितमिति ब्रुवन्तो बन्दिपुत्रा आहुरित्याह—

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

तद्वल्गुना युगपदुन्मिषितेन तावत् सद्यः परस्परतुलामधिरोहतां द्वे।

प्रस्पन्दमानपरुषेतरतारमन्तश्चक्षुस्तव प्रचलितभ्रमरं च पद्मम् ॥ ६८ ॥

सञ्जी०—तद्वल्गुनेति । तत्तस्माल्लक्ष्मीपरिग्रहणाद्वल्गुना मनोज्ञेन । 'वल्गु स्थाने मनोज्ञे च वल्गु भाषितमन्वयत्' इति विश्वः । युगपत्तावदुन्मिषितेन युगपदेवोन्मीलितेन सद्यो द्वे अपि परस्पर तुलामन्योन्यसादृश्यमधिरोहतां प्राप्नुताम् । प्रार्थनायां लोट् । के द्वे ? अन्तः प्रस्पन्दमाना चलन्ती परुषेतरा स्निग्धा तारा कनीनिका यस्य तत्तथोक्तम् । 'तारकाऽक्ष्णः कनीनिका' इत्यमरः । तव चक्षुः । अन्तः प्रचलितभ्रमरं चलद्भृङ्गं पद्मं च । युगपदुन्मेषे सति सम्पूर्णसादृश्यलाभ इति भावः ।

अ०—तद्, वल्गुना, युगपत् , तावद्, उन्मिषितेन, सद्यः, द्वे, परस्परतुलाम्, अधिरोहताम् 'के द्वे' अन्तः प्रस्पन्दमानपरुषेतरतारं, तव, चक्षुः, 'अन्तः' प्रचलितभ्रमरं, पद्मं च । वा०—द्वाभ्यामपि परस्परतुलाऽधिरुह्यतामन्तः प्रस्पन्दमानपरुषेतरतारेण तव चक्षुषाऽन्तः प्रचलितभ्रमरेण पद्मेन च ॥

सुधा०—तद्=तस्माद् , हेत्वर्थेऽव्ययमेतद् । लक्ष्मीपरिग्रहणादित्यर्थः । वल्गुना=मनोज्ञेन, सुन्दरेणेत्यर्थः । युगपद् =एकदा एकस्मिन् काल इत्यर्थः । तावद् =एव, अवधारणेऽर्थेऽव्ययमेतद् । उन्मीषितेन = उन्मीलितेन, 'पद्मपक्षे' विकसितेन, सद्यः=सपदि, द्वे=उभे, नेत्रकमले इत्यर्थः । अपि=युक्तपदार्थे, परस्परतुलाम्=मिथः सादृश्यम्, अधिरोहताम् =अधितिष्ठतां, प्राप्नुतामित्यर्थः । के द्वे ? अन्तः = मध्ये, प्रस्पन्दमानपरुषेतरतारं=किंचिच्चलस्निग्धकनीनिकं, तव=भवतः, चक्षुः=नेत्रम्, 'अन्तः' इत्यस्यात्राप्यन्वयः कार्यः । प्रचलितभ्रमरं=चलद्द्विरेफ, पद्मं=कमलं, च समुच्चयेऽर्थे ॥

स०—परस्परयोस्तुला परस्परतुला तां तथोक्ताम् । परुषादितरा परुषेतरा प्रस्पन्दमाना परुषेतरा तारा यस्य तत्तथोक्तम् । प्रचलिता भ्रमरा यस्मिंस्तत्तथोक्तम् ।

को०—'युगपदेकदा' इत्यमरः । 'यावत् कार्त्स्न्येऽवधारणे । प्रशंसायां परिच्छेदे मानाधिकारसम्भ्रमे' इति मेदिनी । 'तुला सादृश्यमानयोः ॥ गृहाणां दारुबन्धायां पीठिकायामपीष्यते । राशौ पलशते भाण्डे' इत्यपि ॥

ता०—सम्प्रत्यरुणोदयकालसत्त्वादन्तः प्रचलद्भृङ्गानि कमलानि विकासमधिगच्छन्ति, अतो यदि भवानप्यस्मिन्नेव क्षणेन्तः प्रचलन्नीलकनीनिकायुतं नेत्रद्वयं समुन्मीलयतु तर्हि युगपदेवोन्मीलितेन विकसितेन च त्वन्नेत्रं कमलं च, एते द्वे अपि परस्परसादृश्यं प्राप्नुयाताम्, अतो नेत्रोन्मीलनं कुरु यतः कमलानां विकासेनासन्नसूर्योदयो लक्ष्यते, सूर्योदये सति च शयनं निषिद्धम् ॥

इन्दुः—इस (लक्ष्मी के स्वीकार करने के) कारण से सुन्दर जो साथ ही साथ एक ही क्षण में आँख का खुलना और कमल का खिलना ये दोनों व्यापार हैं, उनसे शीघ्र उसी क्षण में [illegible] CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection [illegible] करें, वे दोनों कौन ? एक तो भीतर कुछ २ चलती हुई चिकनी काली पुतलियों वाली तुम्हारी आँखें

और दूसरे भीतर कुछ २ चलते हुए भौंरों से युक्त कमल, अर्थात्-साथ ही साथ खुलने और खिलने से आंखों और कमलों की 'पूर्णरूप से समानता हो जायगी, अर्थात् आप आंखें खोलें, कमल खिल रहे हैं ॥ ६८ ॥

अथ निशाऽवसानसूचकं प्रातःकालीनं मन्दसुगन्धिपवनं वर्णयन्नाह—

वृन्ताच्छ्लथं हरति पुष्पमनोकहानां
संसृज्यते सरसिजैररुणांशुभिन्नैः ।
स्वाभाविकं परगुणेन विभातवायुः
सौरभ्यमीप्सुरिव ते मुखमारुतस्य ॥ ६९ ॥

सञ्जी०—वृन्तादिति । विभातवायुः प्रभातवायुः स्वाभाविकं ते तव मुखमारुतस्य निःश्वासपवनस्य सौरभ्यम् । तादृक्सौगन्ध्यमित्यर्थः । परगुणेन । सांक्रामिकागन्धेनेत्यर्थः । ईप्सुराप्तुमिच्छुरिव । 'आप्ज्ञप्यृधामीत्' इतीकारादेशः । अनोकहानां वृक्षाणां श्लथं शिथिलं पुष्पं वृन्तात्पुष्पबन्धनात् । 'वृन्तं प्रसवबन्धनम्' इत्यमरः । हरत्यादत्ते । अरुणांशुभिन्नैस्तरणिकिरणोद्बोधितैः सरसि जातैः सरसिजैः कमलैः सह । 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इति सप्तम्या अलुक् । संसृज्यते संगच्छते । सृजेर्दैवादिकात्कर्त्तरि लट् ॥

अ०—विभातवायुः, स्वाभाविकं, ते, मुखमारुतस्य, सौरभ्यम्, परगुणेन, ईप्सुः, इव, अनोकहानां, श्लथं, पुष्पं, वृन्ताद्, हरति, अरुणांशुभिन्नैः, सरसिजैः, 'सह' संसृज्यते ॥ वा०—विभातवायुनेप्सुनेव ह्रियते ॥

सुधा०—विभातवायुः = प्रभातपवनः, स्वाभाविकं = नैसर्गिकं, प्राकृतमित्यर्थः । ते = तव, मुखमारुतस्य = वदनपवनस्य, निःश्वासवातस्येत्यर्थः । सौरभ्यं=सौगन्ध्यं, परगुणेन = परकीयगुणेन, ईप्सुः = लिप्सुः, इव = यथा, अनोकहानां = पादपानां, श्लथं = शिथिलं, पुष्पं=कुसुमं, वृन्तात्=प्रसवबन्धनात् , हरति=गृह्णाति । अरुणांशुभिन्नैः = सूर्यकिरणविकसितैः, सरसिजैः = पद्मैः, सह । संसृज्यते = सङ्गच्छते ॥

स०—अरुणस्यांशव इत्यरुणांशवः तैर्भिन्नान्यरुणांशुभिन्नानि तैस्तथोक्तैः । परस्य गुणः परगुणः तेन तथोक्तेन । विभातस्य वायुरिति विभातवायुः ।

को०—'पुष्पं विकास आर्तवे । धनदस्य विमाने च कुसुमे नेत्ररुज्यपी'ति हैमः ।

ता०—प्रभातकालीनो मन्दमारुतः सम्प्रति तेऽन्यदीयगुणेन निःश्वासपवनस्य स्वाभाविकं तादृक्सौगन्ध्यं प्राप्तुमिच्छन्निव वृक्षेभ्यः सूर्यकिरणशिथिलबन्धनानि पुष्पाण्यधः पातयित्वा तदीयं सूर्यांशोद्बोधितानां कमलानां च गन्धमाहरन् वात्यतः सूर्योदयसमयं ज्ञात्वा निद्रां जहीहि ॥

इन्दु—प्रातःकाल की वायु स्वाभाविक ... आपके मुख के निःश्वास-वायु की सुगन्धि के समान सुगन्धि को दूसरे के गुण से अर्थात् दूसरे से प्राप्त किये हुये गन्ध के द्वारा

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection.

प्राप्त करने की इच्छा से, मानो वृक्षों के शिथिल हुये पुष्पों को वृन्त अर्थात्–फूलों के बन्धन–स्थानों से अलग कर रहा है और सूर्य के किरणों से विकसित कमलों के साथ सङ्गत हो रहा है, अर्थात्–फूलों के और कमलों के गन्ध को ग्रहण करता हुआ बह रहा है, अतः सूर्योदय का समय हो रहा है, आप उठें ॥ ६९ ॥

अथ तरुपल्लवस्थितहिमाम्भोवर्णनपुरःसरं निशाऽवसानं सूचयन्नाह—

ताम्रोदरेषु पतितं तरुपल्लवेषु
निर्धौतहारगुलिकाविशदं हिमाम्भः ।
आभाति लब्धपरभागतयाऽधरोष्ठे
लीलास्मितं सदशनार्चिरिव त्वदीयम् ॥ ७० ॥

सञ्जी०—ताम्रोदरेष्विति । ताम्रोदरेष्वरुणाभ्यन्तरेषु पतितं निर्धौता या हारगुलिका मुक्तामणयस्तद्वद्विशदं हिमाम्भो लब्धपरभागतया लब्धोत्कर्षतया । 'परभागो गुणोत्कर्ष' इति यादवः । अधरोष्ठे त्वदीयं सदशनार्चिर्दन्तकान्तिसहितं लीलास्मितमिवाभाति शोभते ॥

अ०—ताम्रोदरेषु, तरुपल्लवेषु, पतितं, निर्धौतहारगुलिकाविशदं, हिमाम्भः, लब्धपरभागतया, अधरोष्ठे, त्वदीयं, सदशनार्चिः, लीलास्मितम्, इव आभाति ॥ वा०—ताम्रोदरेषु तरुपल्लवेषु पतितेन निर्धौतहारगुलिकाविशदेन हिमाम्भसा लब्धपरभागतयाऽधरोष्ठे त्वदीयेन सदशनार्चिषा लीलास्मितेनेनाभायते ॥

सुधा०—ताम्रोदरेषु=शुल्वनिभगर्भेषु, अरुणवर्णयुतमध्यभागेष्वित्यर्थः । तरुपल्लवेषु=पादपकिसलयेषु, पतितं=च्युत्तं, नभस्त इति शेषः । निर्धौतनारगुलिकाविशदं=स्वच्छमुक्तादामगुच्छनिर्मलं, हिमाम्भः=तुषारजलं, लब्धपरभागतया=प्राप्तगुणोत्कर्षतया, अधरोष्ठे=अधोरदनच्छदे, त्वदीयं=भवदीयं सदशनार्चिः=रदनदीप्तिसहितं लीलास्मितं=विलासेषद्धास्यम्, एव=यथा. आभाति=राजते ॥

स०—हारस्य गुलिका हारगुलिकाः, निर्धौताश्च ता हारगुलिका इति निर्धौतहारगुलिकाः, तद्वद् विशदं निर्धौतहारगुलिकाविशदम् ।

को०—'ओष्ठाधरौ तु रदनच्छदौ दशनवाससी' इत्यमरः ॥

ता०—ताम्रवदरुणाभ्यन्तरेषु पादपनवपल्लवेषु रात्रौ पतितं स्वच्छमुक्तादामगुच्छतुल्यं तुषारजलं तवाधरोष्ठे वर्तमानं दशनकान्तिसहितं लीलापूर्वकं मन्दहास्यमनुकुर्वच्छोभते, अर्थात्–सम्प्रति सूर्योदयसमयः समीपवर्ती अतो निद्रां जहीहि ।

इन्दुः—ताम्र के समान लाल वर्ण से युक्त जिनका मध्य भाग है, ऐसे वृक्षों के नवीन पल्लवों पर गिरि हुई स्वच्छ मोतियों के हार के गुच्छे की भांति निर्मल ओस की बूंदे उत्कर्ष को मिले हुये होने से नीचे के ओठ में तुम्हारे दांतों की कान्तियों के सहित लीलापूर्वक मन्दहास्य सुशोभित होता है, उसी भांति सुशोभित ह

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

रहा है । अर्थात् सूर्योदय होना चाहता है; अतः आप उठें ॥ ७० ॥

यावत्प्रतापनिधिराक्रमते न भानु-
रह्नाय तावदरुणेन तमो निरस्तम् ।
आयोधनाग्रसरतां त्वयि वीर ! याते
किं वा रिपूंस्तव गुरुः स्वयमुच्छिनत्ति ॥ ७१ ॥

सञ्जी०—यावदिति । प्रतापनिधिस्तेजोनिधिर्भानुर्यावन्नाक्रमते नोद्गच्छति। 'आङ उद्गमने' इत्यात्मनेपदम् । तावत् । भानावनुदित एवेत्यर्थः । अह्नाय झटिति । 'द्राग्झटित्यञ्जसाऽह्नाय' इत्यमरः । अरुणेनानूरुणा । 'सूर्यसूतोऽरुणोऽनूरुः' इत्यमरः । तमो निरस्तम् । तथाहि—हे वीर ! त्वय्यायोधनेषु युद्धेषु । 'युद्धमायोधनं जन्यम्' इत्यमरः । अग्रसरतां याते सति तव गुरुः पिता रिपून्स्वयमुच्छिनत्ति किं वा । नोच्छिनत्त्येवेत्यर्थः । न खलु योग्यपुत्रन्यस्तभाराणां स्वामिनां स्वयं व्यापारखेद इति भावः॥

अ०—प्रतापनिधिः, भानुः, यावद्, न, आक्रमते, तावद्, अह्नाय, अरुणेन, तमः, निरस्तं, 'तथाहि', वीर !, त्वयि, आयोधनाग्रसरतां, याते, 'सति', तव, गुरुः, रिपून्, स्वयम्, उच्छिनत्ति, किं वा ॥ वा०—प्रतापनिधिना भानुना नाक्रम्यते, अरुणस्तमो निरस्तवान् , गुरुणा रिपवः स्वयमुच्छिद्यन्ते ॥

सुधा०—प्रतापनिधिः=तेजःशेवधिः, तेजःपुञ्जशालीत्यर्थः । भानुः=सूर्यः, यावत्=साकल्येऽर्थे, न = नहि, आक्रमते=उद्गच्छति, उदेतीत्यर्थः । तावद्=अवध्यर्थे, सूर्येऽनुदित एवेत्यर्थः । अह्नाय = झटिति, अरुणेन=सूर्यसूतेन, तमः=अन्धकारः, निरस्तं=दूरीकृतं, तथाहि । हे वीर !=हे भट !, हे अज ! इत्यर्थः । त्वयि=भवति, आयोधनाग्रसरतां=समरपुरोगामितां, याते=प्राप्ते, सति । तव = भवतः, गुरुः = पिता, रघुरित्यर्थः । रिपून् = अरीन्, स्वयम्=आत्मना, उच्छिनत्ति= नाशयति, किं=पृच्छायां, वा=अवधारणेऽर्थे, न नाशयत्येवेत्यर्थः । योग्यसुते न्यस्तकार्यभारस्य पितुः स्वयं पुनः कस्यचिदपि कार्यस्य साधने व्यापारो न करणीय इत्यतो विनिद्रो भवेति भावः ॥

स०—प्रतापस्य निधिरिति प्रतापनिधिः । अग्रे सरतीत्यग्रसरः तस्य भावोऽग्रसरता आयोधनेष्वग्रसरतेत्यायोधनाग्रसरता तां तथोक्ताम् ।

को०—'आक्रम्यते चाक्रमते ज्योतिष्कर्तृक उद्गमे' इत्याख्यातचन्द्रिका ॥

ता०—यथा सूर्यसूतोऽरुणः सूर्योदयात्प्रागेव तत्साहाय्यमनपेक्ष्य तमो निरस्यति, तथैव त्वमपि पितुः शयनादुत्थानसमयात् प्रागेव शय्यां परित्यज्य विनिद्रः सन् स्वयं पितृसाहाय्यं विनैव रिपुजनान् समूलमुन्मूलय, अर्थात् निद्रां जहीहि ॥

इन्दुः—तेज के निधि (खजाना) सूर्य भगवान् जब तक उदय नहीं हो पाते तब तक उनके पहिले ही जल्दी से सूर्य के सारथि 'अरुण' ही अन्धकार को दूर कर देते हैं, अतः हे वीर ! युवराज अज ! आप के सबसे आगे युद्ध में रहने वाले होते हुये

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

आप के पिता रघु महाराज शत्रुओं को क्या स्वयम् उच्छिन्न करते हैं, नहीं, बल्कि आप करते हैं, अतः आप अब सो कर उठें ॥ ७१ ॥

सम्प्रति ते सेनागजेन्द्रा अपि विनिद्रा जाता अतस्त्वमपि विनिद्रो भवेत्याह—

शय्यां जहत्युभयपक्षविनीतनिद्राः
स्तम्बेरमा मुखरशृङ्खलकर्षिणस्ते ।
येषां विभान्ति तरुणारुणरागयोगा-
द्भिन्नाद्रिगैरिकतटा इव दन्तकोशाः ॥ ७२ ॥

सञ्जी०—शय्यामिति। उभाभ्यां पक्षाभ्यां विनीता अपगता निद्रा येषां त उभयपक्षविनीतनिद्राः। अत्र समासविषय उभशब्दस्थान उभय शब्दप्रयोग एव साधुरित्यनुसन्धेयम्। यथाऽऽहकैयटः-'उभादुदात्तो नित्यमि'ति नित्यग्रहणस्येदं प्रयोजनं वृत्तिविषय उभशब्दस्य प्रयोगो मा भूत्। उभयशब्दस्यैव यथा स्यात्, उभयपुत्र इत्यादि भवति, इति। मुखराण्युत्थानचलनाच्छब्दायमानानि शृङ्खलानि निगडानि कर्षन्तीति तथोक्तास्त एव तव स्तम्बे रमन्त इति स्तम्बेरमा हस्तिनः। 'स्तम्बकर्णयो रमिजपोः' इत्यच्प्रत्ययः। 'हस्तिसूचकयोः' इति वक्तव्यात्। 'इभ स्तम्बे रमः पद्मी' इत्यमरः। 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इति सप्तम्या अलुक्। शय्यां जहति त्यजन्ति। येषां स्तम्बेरमाणां। दन्ताः कोशा इवेति दन्तकोशा दन्तकुड्मलास्तरुणारुणरागयोगात् बालार्कारुणसंपर्काद्धेतोर्भिन्नाद्रिगैरिकतटा इव विभान्ति। धातुरक्ता इव भान्तीत्यर्थः ॥

अ०—उभयपक्षविनीतनिद्राः,मुखरशृङ्खलकर्षिणः, ते, स्तम्बेरमाः, शय्यां, जहति, येषां, दन्तकोशाः, तरुणारुणरागयोगाद्, भिन्नाद्रिगैरिकतटाः, इव, विभान्ति ॥ वा०—उभयपक्षविनीतनिद्रैर्मुखरशृङ्खलकर्षिभिस्तैः स्तम्बेरमैः शय्या हीयते येषां दन्तकोशैस्तरुणारुणरागयोगाद्भिन्नाद्रिगैरिकतटैरिव भायते ॥

सुधा०—उभयपक्षविनीतनिद्राः = पार्श्वद्वयपरिवर्त्तनदूरीकृतस्वापाः, मुखरशृङ्खलकर्षिणः = शब्दायमानान्दुककर्षणशीलाः, इतस्ततोऽङ्गसञ्चालनाज्झणझणायमानबन्धनशृङ्खलाकर्षणकारिण इत्यर्थः। ते = पूर्वोक्ताः, स्तम्बेरमाः = करिणः, तव सेनागजेन्द्रा इत्यर्थः। शय्यां=शयनीयं, जहति=त्यजन्ति, विनिद्रा भवन्तीत्यर्थः। येषां= पूर्वोक्तानां, स्तम्बेरमाणामित्यर्थः। दन्तकोशाः = रदनकुड्मलाः, तरुणारुणरागयोगाद्=नूतनसूर्यरक्तवर्णसम्पर्काद्, हेतौ पञ्चमी बोध्या। भिन्नाद्रिगैरिकतटाः = छिन्नपर्वतगैरिकभृगवः पर्वतस्य छिन्ना गैरिकधातुखण्डा इत्यर्थः। इव = यथा, विभान्ति = शोभन्ते, गैरिकधातुरक्ता इव राजन्त इत्यर्थः ॥

स०—उभौ च तौ पक्षौ उभयपक्षौ ताभ्यां विनीता उभयपक्षविनीता तादृशा निद्रा येषान्ते उभयपक्षविनीतनिद्राः।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

को०—'पक्षो मासार्धके गेहपार्श्वसाध्यविपक्षयोः' इति मेदिनी।

ता०—हे युवराज अज ! तव सेनागजेन्द्रा वामदक्षिणपार्श्वद्वयपरिवर्तनपुरःसरं दूरीकृतनिद्राः सन्तः सम्प्रति शयनीयतलादुत्तिष्ठन्ति, ततस्तेषामुत्थानसमयेऽङ्गसञ्चालनाद्बन्धनश्रृङ्खलानां 'झणज्झणे'ति घोरः शब्दः सञ्जायते, तेषां रदनाश्चाभिनवसूर्यारुणकिरणसम्पर्काद्वप्रक्रीडायां पर्वतस्यगैरिकधातुतटोत्पाटने गैरिकधातुरक्ता इव शोभन्ते।

इन्दुः—दोनों पार्श्वों से करवट बदलने से जिनकी नींद पूरी हो चुकी है, अत एव उठने के समय अङ्गों के हिलने से झन्-झन् शब्द करते हुए लोह के बने हुए सीकडों को खींच रहे हैं, ऐसे आपकी सेना के सभी गजेन्द्र शय्या का त्याग कर रहे हें, अर्थात् अपने २ शयन करने के स्थानों से उठ रहे हैं, और जिनके खिलने के नजदीक आई हुई कलियों के समान दांत हाल में उदय होते हुये सूर्य की लाल २ किरणों के सम्पर्क होने से कटे हुए पर्वत के गेरू के टुकटे की काँति मालूम पड़ते हुए सुशोभित हो रहे हैं। अर्थात् हाथी भी सोकर उठ गये, अब आप को भी उठना चाहिये ॥ ७२ ॥

अथ सेनाऽश्वा अपि विगतनिद्रा जाता इति ब्रुवन्तो बन्दिपुत्रा आहुरित्याह—

दीर्घेष्वमी नियमिताः पटमण्डपेषु
निद्रां विहाय वनजाक्ष ! वनायुदेश्याः ।
वक्त्रोष्मणा मलिनयन्ति पुरोगतानि
लेह्यानि सैन्धवशिलाशकलानि वाहाः ॥ ७३ ॥

सञ्जी०—दीर्घेष्विति । हे वनजाक्ष ! नीरजाक्ष ! 'वनं नीरं वनं सत्त्वम्' इति शाश्वतः । दीर्घेषु पटमण्डपेषु नियमिता बद्धा वनायुदेश्या वनायुदेशे भवाः । 'पारसीका ०वनायुजाः' इति हलायुधः अमी वाहा अश्वा निद्रां विहाय पुरोगतानि लेह्यान्यास्वाद्यानि सैन्धवशिलाशकलानि । 'सैंधवोऽस्त्री शीतशिवं मणिमन्थं च सिन्धुजे' इत्यमरः । वक्त्रोष्मणा मलिनयन्ति मलिनानि कुर्वन्ति । उक्तं च सिद्धयोगसंग्रहे—(पूर्वाह्णकाले चाश्वानां प्रायशो लवणं हितम् । शूलमोहविबन्धघ्नं लवणं सैन्धवं वरम् ॥) इत्यादि ।

अ०—वनजाक्ष !, दीर्घेषु, पटमण्डपेषु, नियमिताः, वनायुदेश्याः, अमी, वाहाः, निद्रां, विहाय, पुरोगतानि, लेह्यानि, सैन्धवशिलाशकलानि, वक्त्रोष्मणा, मलिनयन्ति । वा०—नियमितैर्वनायुदेश्यैरमीभिर्वाहैर्मलिन्यन्ते ।

सुधा—वनजाक्ष !=हे कमलनयन !, हे अज ! इत्यर्थः । दीर्घेषु=आयतेषु, पटमण्डपेषु=वस्त्रनिर्मितभवनेषु, नियमिताः=संयताः, बद्धा इत्यर्थः । वनायुदेश्याः=पारसीकाः, पारसदेशे जाता इत्यर्थः । अमी=एते, वाहाः,=हयाः, सेनातुरङ्गा इत्यर्थः । निद्रां=स्वापं, विहाय =त्यक्त्वा, पुरोगतानि = अग्रे स्थितानि, लेह्यानि = आस्वाद्यानि, जिह्वयाऽऽस्वादनार्हाणीत्यर्थः । सैन्धवशिलाशकलानि=सिन्धुजलवणप्रस्तरखण्डान् , वक्त्रोष्मणा=मुखनिःश्वासोष्मणेत्यर्थः, मलिनयन्ति=मलिनानि कुर्वन्ति ।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu. Collection

स०—सैन्धवस्य शिलाः सैन्धवशिलाः तासां शकलानि सैन्धवशिलाशकलानि ।

को०—'अथ मण्डपोऽस्त्री जनाश्रयः' इत्यमरः ।

ता०—हे कमलनयन ! अज ! वस्त्रनिर्मितबृहदश्वशालायां बद्धाः पारसीका एते ते सेनामध्यवर्तिनोऽश्वाः सम्प्रति निद्रां परित्यज्य संमुखस्थितानि सैन्धवशिलाशकलानि लिलिक्षवः सन्तो निजमुखनिःश्वासौष्ण्येन मलिनानि कुर्वन्तीत्यतस्त्वमपि विगतनिद्रो भव ।

इन्दुः— हे कमलनयन ! अज ! कपड़ों के बने हुए बड़े-बड़े मण्डपों में बंधे हुये पारस देश में उत्पन्न हुये (पारसी) ये आप की सेना के घोड़े निद्रा त्याग कर उठे हुए, आगे रखे हुये चाटने लायक सेंधा नमक के चट्टानों के टुकड़ों को अपने मुख के वायु की गर्मी से अर्थात् भाप से मैला कर रहे हैं ॥ ७३ ॥

भवति विरलभक्तिर्म्लानपुष्पापहारः
स्वकिरणपरिवेषोद्भेदशून्याः प्रदीपाः ।
अयमपि च गिरं नस्त्वत्प्रबोधप्रयुक्ता-
मनुवदति शुकस्ते मञ्जुवाक्पञ्जरस्थः ॥ ७४ ॥

सञ्जी०—भवतीति । म्लानः पुष्पोपहारः पुष्पपूजा म्लानत्वादेव विरलभक्तिर्विरलरचनो भवति । प्रदीपाश्च स्वकिरणानां परिवेषस्य कण्डलस्योद्भेदेन स्फुरणेन शून्या भवन्ति । निस्तेजस्का भवन्तीत्यर्थः । अपि चायं मञ्जुवाङ् मधुरवचनः पञ्जरस्थस्ते तव शुकस्त्वत्प्रबोधनिमित्तेन प्रयुक्तामुच्चारितां नोऽस्माकं गिरं वाणीमनुवदति । अनुकृत्य वदतीत्यर्थः । इत्थं प्रभातलिङ्गानि वर्तन्ते, अतः प्रबोद्धव्यमिति भावः ।

अ०—म्लानपुष्पोपहारः, विरलभक्तिः, भवति, प्रदीपाः. स्वकिरणपरिवेषोद्भेदशून्याः, 'भवन्ति' । अपि, च, अयं, मञ्जुवाक्, पञ्जरस्थः, ते, शुकः, त्वत्प्रबोधप्रयुक्तां, नः, गिरम्, अनुवदति । वा०—म्लानपुष्पोपहारेण विरलभक्त्या भूयते, प्रदीपैः स्वकिरणपरिवेषोद्भेदशून्यैः 'भूयते' । अपि चानेन मञ्जुवाचा पञ्जरस्थेन ते शुकेन त्वत्प्रबोधप्रयुक्ता नो गीरनूद्यते ।

सुधा—म्लानपुष्पोपहारः=मुखबाष्पम्लानकुसुमोपायनम्, उपायनार्थमानीतानि पुष्पाणि मुखबाष्पादिना स्वरूपविकृतिं प्राप्तानीत्यर्थः विरलभक्तिः=विरलरचनः, म्लानत्वादेवेति भावः । भवति अस्ति । प्रदीपाः=दीपकाः, स्वकिरणपरिवेषोद्भेदशून्याः=निजरश्मिमण्डलस्फुरणरहिताः, निष्प्रभा इत्यर्थः । (भवन्ति=वर्त्तन्ते) वचनविपरिणामेनात्रान्वयो बोध्यः । अपि = युक्तपदार्थे, च = समुच्चयेऽर्थे, अयम्=एषः, मञ्जुवाग् = मञ्जुलवचाः, श्रुतिसुखदभाषीत्यर्थः । पञ्जरस्थः = पञ्जरवर्त्ती, ते = तव, शुकः=कीरः, त्वत्प्रबोधप्रयुक्तां=भवदुत्थापनार्थमुक्ताम्, भवन्निद्रात्यागार्थमस्माभिः प्रयुक्तामित्यर्थः । नः=अस्माकं, गिरं = वचः, पूर्वोक्तस्तुतिपाठरूपामित्यर्थः । अनुवदति=अनुब्रवीति, अनुकृत्य कथयतीत्यर्थः ।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

स०—स्वस्य किरणाः स्वकिरणाः तेषां परिवेषः स्वकिरणपरिवेषः तस्योद्भेद-

स्वकिरणपरिवेषोद्भेदः तेन शून्या स्वकिरणपरिवेषोद्भेदशून्याः ।

को०—'पेलवं विरलं तनु' इत्यम० । 'परिवेषः स्यात्परिधौ परिवेषणे'इति रुद्रः ।

इन्दुः—उपहार में आये हुये पुष्पों के मुरझा जाने से उनकी रचना (गुथाई) ढीली हो गई है, और दीपक अपने २ प्रभामण्डल के चमक से रहित हो रहे हैं, अर्थात्-दीपकों की प्रभा फीकी हो गई है, अतः इन सब पूर्वोक्त लक्षणों से पूरा सबेरा हो गया है और यह सुन्दर बोलने वाला पिंजरे में बैठा हुआ आपका तोता भी आप को जगाने के लिये कहे गये हम लोगों के पूर्वोक्त वचनों का अनुकरण कर बोल रहा है, अतः अब आप निद्रा का त्याग कर उठें ॥ ७४ ॥

इति विरचितवाग्भिर्बन्दिपुत्रैः कुमारः
सपदि विगतनिद्रस्तल्पमुज्झाञ्चकार ।
मदपटु निनदद्भिर्बोधितो राजहंसैः
सुरगज एव गाङ्गं सैकतं सुप्रतीकः ॥ ७५ ॥

सञ्जी०—इतीति । इतीत्थं विरचितवाग्भिर्बन्दिपुत्रैर्वैतालिकैः। पुत्रग्रहणं समानवयस्कत्वद्योतनार्थम् । सपदि विगतनिद्रः कुमारः तल्पं शय्याम् । 'तल्पं शय्याऽट्टदारेषु' इत्यमरः । उज्झाञ्चकार विससर्ज। 'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' इत्याम्प्रत्ययः । कथमिव । मदेन पटु मधुरं निनदद्भी राजहंसैर्बोधितः सुप्रतीकाख्य । सुरगज ईशानदिग्गजः । गङ्गाया इदं गाङ्गं सैकतं पुलिनमिव । 'तोयोत्थितं तत्पुलिनं सैकतं सिकतामयम्' इत्यमरः । 'सिकताशर्कराभ्यां च' इत्यण्प्रत्ययः । सुप्रतीकग्रहणं प्रायशः कैलासवासिनस्तस्य नित्यं गङ्गातटविहारसम्भवादित्यनुसन्धेयम् ।

अ०—इति, विरचितवाग्भिः, बन्दिपुत्रैः, सपदि, विगतनिद्रः, कुमारः, तल्पम्, उज्झाञ्चकार, 'कथमिव', मदपटु, निनदद्भिः, राजहंसैः, बोधितः, सुप्रतीकः, सुरगजः, गाङ्गं, सैकतम्, इव। वा०—विगतनिद्रेण कुमारेण तल्पमुज्झाञ्चक्रे, बोधितेन सुप्रतीकेन सुरगजेन गाङ्गं सैकतमिव ।

सुधा०—इति = इत्थं, पूर्वोक्तप्रकारेणेत्यर्थः, विरचितवाग्भिः=प्रणीतस्तुतिवचनैः, बन्दिपुत्रैः = सूतात्मजैः, सपदि = सद्यः, तत्क्षण एवेत्यर्थः । विगतनिद्रः=त्यक्तस्वापः, कुमारः = युवराजः, अज इत्यर्थः । तल्पं = शय्याम्, उज्झाञ्चकार=तत्याज, तल्पादुत्थितवानित्यर्थः । कथमिवेत्याह—मदपटु=हर्षमधुरं, यथा स्यात्तथा क्रियाविशेषणमिदम् । निनदद्भिः = शब्दं कुर्वद्भिः, राजहंसैः, कलहंसैः, चञ्चुचरणैर्लोहितैरुपलक्षितैर्हंसैरित्यर्थः । बोधितः = जागरितः, शयनादुत्थापित इत्यर्थः, सुप्रतीकः=तदाख्यः, सुरगजः=देवद्विपः, ईशानदिग्गज इत्यर्थः । गाङ्गं=स्वर्णदीसम्बन्धि, सैकतं=सिकतामयं, पुलिनम् । इव=यथा । अत उपरितनश्लोकेऽस्मिंश्च मालिनीनामकं वृत्तमस्ति तल्लक्षणं यथा वृत्तरत्नाकरे—'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः' इति ।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

ता०—हर्षेण मधुरं शब्दं कुर्वद्भी राजहंसैर्बोधितः सुप्रतीकाख्य ईशानदिग्गजो

यथा गङ्गायाः सिकतामयं पुलिनं त्यजति तथैव पूर्वोक्तप्रकारेण स्तुतिवचनं ब्रुवद्भिर्बन्दिपुत्रैः प्रबोधितो रघुसूनुरजः शीघ्रमेव तल्पं तत्याज।

इन्दु०—इस प्रकार से स्तुति-वचनों की रचना जिन्होंने की है, ऐसे बन्दि-पुत्रों से शीघ्र ही जिनकी निद्रा दूर हो गई थी, ऐसे युवराज अज ने शय्या को उस तरह से परित्याग किया—जिस तरह से हर्ष से मधुर शब्द करते हुये राजहंसों से जगाया गया, 'सुप्रतीक' नामक ईशान दिशा का दिग्गज गङ्गा के रेतीले तट का परित्याग करता है ॥ ७५ ॥

अथ विधिमवसाय्य शास्त्रदृष्टं दिवसमुखोचितमञ्चिताक्षिपक्ष्मा।
कुशलविरचितानुकूलवेषः क्षितिपसमाजमगात्स्वयंवरस्थम् ॥ ७६ ॥

सञ्जी०—अथेति। अथोत्थानानन्तरमञ्चितानि चारूण्यक्षिपक्ष्माणि यस्य सोऽजः शास्त्रे दृष्टमवगतं दिवसमुखोचितं प्रातःकालोचितं विधिमनुष्ठानमवसाय्य समाप्य। स्यतेर्ण्यन्ताल्ल्यप्। कुशलैः प्रसाधनदक्षैर्विरचितोऽनुकूलः स्वयंवरोचितो वेषो नेपथ्यं यस्य स तथोक्तः सन् स्वयंवरस्थं क्षितिपसमाजं राजसमूहमगादगमत्। 'इणो गा लुङि' इति गादेशः। पुष्पिताग्रा वृत्तमेतत्। तल्लक्षणम्—'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' इति॥

इति पञ्चमसर्गे म० म० कोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितसञ्जीविनी टीका समाप्ता।

अ०—अथ, अञ्चिताक्षिपक्ष्मा, शास्त्रदृष्टं, दिवसमुखोचितं, विधिम्, अवसाय्य, कुशलविरचितानुकूलवेषः, 'सन्', स्वयंवरस्थं, क्षितिपसमाजम्, अगात्॥ वा०—अञ्चिताक्षिपक्ष्मणा कुशलविरचितानुकूलवेषेण 'सता' स्वयंवरस्थः क्षितिपसमाजोऽगायि॥

सुधा—अथ=अनन्तरं, शय्यापरित्यागानन्तरमित्यर्थः। अञ्चिताक्षिपक्ष्मा=पूजितनेत्रलोमा, सुन्दरनयनलोमवानज इत्यर्थः। शास्त्रदृष्टम्=आगमपरिज्ञातं, शास्त्रोदितमित्यर्थः। दिवसमुखोचितं=प्रत्यूषयोग्यं प्रातःकाले करणीयमित्यर्थः। विधिम्=अनुष्ठानं, सन्ध्यावन्दनादिकमित्यर्थः। अवसाय्य=समाप्य, कृत्वेत्यर्थः। कुशलविरचितानुकूलवेषः=प्रसाधननिपुणजननिर्मितस्वयंवरोचितनेपथ्यः। सन्। स्वयंवरस्थं=स्वयंवरभूमिस्थितं, क्षितिपसमाजं=नृपतिमण्डलम्, अगात्=अगमत्। अत्र—पुष्पिताग्रानामकं वृत्तं, तल्लक्षणं यथा वृत्तरत्नाकरे—'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' इति।

इन्दुः—शय्या त्याग कर उठने के वाद जिनके नेत्रों के लोम सुन्दर हैं, ऐसे युवराज अज शास्त्रोक्त प्रातःकाल के योग्य सन्ध्या-वन्दनादिक अनुष्ठान समाप्त कर अलङ्कृत करने वालों में चतुर पुरुषों के द्वारा अपना स्वयंवर में जाने के योग्य उत्तम वेष बनाकर स्वयंवर में बैठे हुये राज-समाज में गये ॥ ७६ ॥

इति श्रीमहेशानन्दशर्मणा कृतया सुधाव्याख्ययाऽन्वितः पञ्चमः सर्गः समाप्तः।

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection.

मुद्रकः—श्रीगोकुल मुद्रणालय, वाराणसी-१ । १९७७

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection

परीक्षोपयोगी ग्रन्थः

उत्तररामचरितम् । महाकवि भवभूति प्रणीतम् 'इन्दुमती' संस्कृत हिन्दी व्याख्या सहित । डॉ० कपिलदेव गिरी (१९९४) ७५-००

कुमारसम्भवम् । कालिदास कृत । 'संजीवनी', 'शिशुहितैषिणी' टीका द्वितीय सस्करण (१९८७) १५०-००

किरातार्जुनीयम् । भारवि कृत । मल्लिनाथ कृत 'घण्टापथ' तथा गङ्गाधर मिश्र कृत 'सुधा' टीका । प्रथम सर्ग १०-००, द्वितीय सर्ग १०-०० ३-६ सर्ग २५-००

लघुशब्देन्दुशेखरः । नागेशभट्ट कृत । नित्यानन्द पन्त पर्वतीय कृत 'दीपक' टीका । षष्ठम् संस्करण पंचसंधिः प्रथम भाग ५०-०० द्वितीय भाग १००-०० अव्ययीभावान्त १५०-००

काव्यप्रकाशः । मम्मटाचार्य कृत । हरिशङ्कर शर्मा कृत 'नागेश्वरी' टीका । सं० दुण्ढिराज शास्त्री (१९९४) ६०-००

वृत्तरत्नाकरः । भट्ट केदार कृत । भट्ट नारायण कृत 'नारायणी' संस्कृत टीका तथा केदारनाथ शर्मा कृत 'मणिमयी' हिन्दी टीका । वैद्यनाथ शास्त्री वर्कले कृत भूमिका नोट्स २५-००

कुमारसम्भवम् । कालिदास कृत प्रथममहाकाव्य । १ से ८ सर्गो तक मल्लिनाथ की सञ्जीविनी और ९ से १७ सर्गो तक सीताराम कवि की सञ्जीविनी टीका सन्निविष्ट है । आचार्य शेषराज शर्मा 'रेग्मी' कृत अन्वय, 'चन्द्रकला' हिन्दी अनुवाद, टिप्पणी और पाठान्तर सहित । (सम्पूर्ण) प्रथम संस्करण (१९८७) ७५-००

किरातार्जुनीयम् । भारवि कृत । मल्लिनाथ कृत 'घण्टापथ' सं० टीका तथा आचार्य शेषराज शर्मा रेग्मी कृत 'चंद्रकला' हिंदी अनुवाद । (सम्पूर्ण) प्रथम संस्करण (१९८७) । ७५-००

प्रधान शाखा फोन : ३२०४१४

चौखम्भा संस्कृत भवन

पोस्ट बाक्स नं० ११६०
चौक, वाराणसी-२२१००१ (भारत)

CC-0. Nepal Sanskrit Academy, Kathmandu Collection